ंक्षिप्त जैन इतिहास।

तृ० भाग: द्वि० खंड

लेखक:—

बाबू कामताप्रसादजी जैन
साहित्यमनीषी
अलीगंज, एटा।

"दिगंबर जैन" के ३१ वें वर्षका
उपहार ग्रन्थ।

सेठ किसनदासजी कापड़िया स्मारक ग्रंथमाला नं० २

ॐ

संक्षिप्त जैन इतिहास।

भाग ३--खण्ड २

[दक्षिण भारतके जैनधर्मका इतिहास]

विभाग—

१-मध्यकालीन खंड पल्लव और कदंब राजवंश।
२-गंग राजवंश।
३-तत्कालीन छोटे राजवंश।

लेखक—

बा० कामताप्रसाद जैन साहित्यमनीषी
एम. आर. ए. एस.,
सम्पादक, 'वीर' और जैनसिद्धान्त भास्कर, अलीगंज (एटा)

प्रकाशक—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
मालिक, दिगम्बर जैनपुस्तकालय, कापड़ियाभवन-सूरत।

सूरत निवासी स्वर्गीय सेठ किसनदास पूनमचन्दजी
कापडियाके स्मरणार्थ "दिगम्बर जैन" के
३१ वें वर्षके ग्राहकोंको भेट।

प्रथमावृत्ति] वीर सं० २४६४ [प्रति १०००

मूल्य—एक रुपया।

दो शब्द ।

"दक्षिण जैन इतिहास" के तृतीय भागका यह दूसरा खण्ड पाठकोंको भेंट करते हुये मुझे हर्ष है । इस खण्डमें दक्षिण भारतके कतिपय प्रमुख राजवंशों, जैसे पल्लव, कादम्ब, गंग आदिका परिचयात्मक विवरण दिया गया है । साथ ही उन वंशोंके राजाओंके शासनकालमें जैनधर्मका क्या अस्तित्व रहा था, यह भी पाठक इसमें अवलोकन करेंगे । मेरे खयालसे यह रचना जैन-साहित्य ही नहीं, बल्कि भारतीय हिन्दी-साहित्यमें अपने ढंगकी पहली रचना है और इसमें ही इसका महत्व है । मुझे जहांतक ज्ञात है, हिन्दीमें शायद ही कोई ऐसा ऐतिहासिक ग्रन्थ है, जिसमें दक्षिण भारतके राजवंशोंका विशद वर्णन मिलता हो । इस इतिहासके अगले खण्डमें पाठकगण दक्षिणके अन्य प्रमुख राजवंशों—चालुक्य, राष्ट्रकूट, होयसल इत्यादिका परिचय पढ़ेंगे । और इस प्रकार दोनों खण्डोंके पूर्णतः प्रकट होनेपर दक्षिण भारतका एक प्रामाणिक इतिहास हिन्दीमें प्राप्त होसकेगा, जिससे हिन्दीके इतिहास-शास्त्रकी एक हद तक खासी पूर्ति होगी । यदि विद्वानोंको यह रचना रुचिकर और ग्राह्य हुई, तो मैं अपने परिश्रमको सफल हुआ समझूंगा ।

अन्तमें मैं उन महानुभावोंका आभार स्वीकार करना भी अपना कर्तव्य समझता हूं जिनसे मुझे इस इतिहास-निर्माणमें किसी न किसी रूपमें सहायता मिली है । विशेषतः मैं उन ग्रन्थ-कर्ताओंका उपकृत हूँ जिनके ग्रन्थोंसे मैंने सहायता ली है । उनका नामोल्लेख अलग एक संकेतसूचीमें कर दिया है । उसके साथ ही मैं श्री० के० भुजबली शास्त्री, अध्यक्ष जैनसिद्धान्त भवन आरा एवं अध्यक्ष, इम्पीरियल लायब्रेरी कलकत्ताका भी आभारी हूं जिन्होंने अपने भवनोंसे आवश्यक ग्रन्थ उधार देकर मेरे कार्यको सुगम बना दिया । अन्ततः सेठ मूलचन्द किसनदासजी कापड़ियाको धन्यवाद दिये बिना भी मैं रह नहीं सकता, क्योंकि उन्हींकी कृपाका परिणाम है कि यह ग्रन्थ इतना जल्दी प्रचारमें आरहा है ।

अलीगंज ।
ता० ३-१०-१८

विनीत—
कामताप्रसाद जैन ।

स्वर्गीय सेठ किसनदास पूनमचन्दजी कापडिया-स्मारक ग्रन्थमाला नं० २

वीर सं० २४६० में हमने अपने पूज्य पिताजीके अंत समय पर २०००) इस लिये निकाले थे कि इस रकमको स्थायी रखकर उसकी आयमेंसे पूज्य पिताजीके स्मरणार्थ एक स्थायी ग्रंथमाला निकालकर उसका सुलभ प्रचार किया जाय।

इस प्रकार इस स्मारक ग्रन्थमालाकी स्थापना वीर सं० २४६२ में की गई और उसका प्रथम ग्रन्थ "पतितोद्धारक जैन धर्म" प्रकट करके 'दिगम्बर जैन' के २९ वे वर्षके ग्राहकोंको भेट किया गया था और इस मालाका यह दूसरा ग्रन्थ "संक्षिप्त जैन इतिहास" तीसरे भागका दूसरा खंड प्रकट किया जाता है और यह भी 'दिगम्बर जैन' के ३१ वें वर्षके ग्राहकोंको भेट दिया जाता है।

ऐसी ही अनेक स्मारक ग्रंथमालाएं जैन समाजमें स्थापित हों ऐसी हमारी हार्दिक भावना है।

मूलचन्द किसनदास कापडिया,
प्रकाशक।

निवेदन।

दिगम्बर जैन समाजमें अलीगंज (एटा) निवासी श्री० बाबू कामताप्रसादजी जैन एक ऐसे अजोड व्यक्ति हैं जो अपना जीवन प्राचीन जैन इतिहासके संकलनमें ही लगा रहे हैं और उसके कारण अपने स्वास्थ्यकी भी परवा नहीं करते हैं।

आपके सम्पादन किये हुए भगवान महावीर, भगवान पार्श्वनाथ, भ० महावीर व भ० बुद्ध, पंचरत्न, नवरत्न, सत्यमार्ग, पतितोद्धारक जैनधर्म, दिगम्बरत्व व दि० मुनि, वीर पाठावलि, और संक्षिप्त जैन इतिहास प्र० द्वि० व तीसरा भाग (प्र० खंड) तो प्रकट होचुके हैं और यह संक्षिप्त जैन इतिहास तीसरा भाग-दूसरा खंड प्रकट करते हुए हमें अतीव हर्ष होता है हम और सारा जैन समाज आपकी इन कृतियोंके लिये सदैव आभारी रहेंगे। इसके तीसरे भागका तीसरा खण्ड भी आप तैयार कर रहे हैं जो बहुत करके आगामी वर्षमें प्रकट किया जायगा

इस ग्रंथकी कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं, आशा है उसका शीघ्र ही प्रचार हो जायगा।

निवेदक:—

वीर सं० २४६४.) मूलचन्द किसनदास कापडिया,
आश्विन सुदी १४.) -प्रकाशक।

"जैनविजय" प्रिन्टिग प्रेस, गांधीचौक,-सूरतमें
मूलचन्द किसनदास कापड़ियाने मुद्रित किया।

संकेताक्षर-सूची।

इस ग्रन्थ निर्माणमें निम्नलिखित ग्रन्थोंसे सधन्यवाद सहायता ग्रहण की गई है—

अहिइं-अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, स्मिथकृत (चतुर्थावृत्ति)।

आइइं०-आरीजिनक इन्हैबीटेन्ट्स ऑव इंडिया, ऑपर्टकृत।

ओअ०-ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)।

इआ०-एनुअल बिब्लोग्रेफी ऑव इंडियन ऑर्केलॉजी (लीडन)।

इका०-इपीग्रेफिया कर्नाटेका (बंगलोर)।

कलि०-हिस्टी ऑव कनैरीज़ लिट्रेचर (Heritage of India Series)

गङ्ग०-एम. वी. कृष्णकृत दी गंगज ऑव तलकाड (मद्रास).

गैब०-भाण्डारकर, गैजेटियर ऑव बोम्बे प्रेजीडेंसी (लन्दन).

जमीसो०-जर्नल ऑव दी मीथिक सोसाइटी (बेंगलोर)।

जैसाइं०-एस. आर. शर्मा, जैनीजम इन साउथ इण्डिया

जैशिसं०-जैन शिलालेख संग्रह (माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला)।

जैहि०-जैन हितैषी (बम्बई)।

दिदिमु०-दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि (अम्बाला)।

ममैप्राजैस्मा०-मद्रास मैसूर प्राचीन जैन स्मारक (सूरत)

मैकु०-राइस कृत मैसूर एण्ड कुर्ग फ्रॉम इंसक्रिपशन्स।

रश्रा०-रत्नकरण्ड श्रावकाचार (मा० ग्रं०)।

लाभाइ०लाला लाजपतराय कृत 'भारतका इतिहास' (लाहौर)।

स्टसाइंजै०
साइंजै० } स्टडीज़ इन साउथ इण्डियन जैनीजम।

हरि०-हरिवंशपुराण (कलकत्ता)।

नोट—विशेषके लिये भा० ३ खण्ड १ देखो।

शुद्धाऽशुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२	विजयननर	विजयनगर
१४	१७	पाव्य	पांड्य
१५	११	पक्लव	पल्लव
,,	२०	वतन	वहन
२३	१९	समूहक	समूहका
२६	१७	सेनाधति	सेनापति
३०	१२	श्वेतपत्र	श्वेतपट
३२	१	सघाधुओं	साधुओं
३४	९	जन	जैन
३८	७	छत्रियों	क्षत्रियों
४६	४	अतिम	अमित
५९	१९	हीरामल्ल	ही राजमल्ल
६७	१५	पड़ा।	पड़ा, जो
८३	६	मुई	हुई
८५	२३	उद्योग	उद्योत
८८	२०	पराव्त	परास्त
,,	१७	में	से
१२१	११	एक बौद्ध	ये
,,	१२	मठमें	×
१२६	६	अक्रादशज्य	अक्रद राज्य
१३२	१९	दुधहन	दुलहन
१४४	३	पक्रव	पल्लव
१४८	२०	बुदुग	बुदुग
१५४	१४	तुढुव	तुलुव
,,	१८	नामक	नामक राजा
१५९	२०	में पराजय	पर राज्य

विषयसूची ।

श्रद्धाञ्जलि !

श्रीमान् पं० युगलकिशोरजी मुख्तार-सरसावा
की सेवामें

यह
तुच्छ रचना
उनकी
ऐतिहासिक प्रगति
और
उल्लेखनीय शोध
को
लक्ष्य करके
सादर
समर्पित है।

—कामताप्रसाद।

श्री श्रवणबेलगोलामें इन्द्रगिरिस्थित-

श्री गोमट्टस्वामीजी (बाहूबलीस्वामीजी)।

श्री श्रवणबेलगोलाके मुख्य मंदिरकी-प्राचीन प्रतिमाएँ।

और स्वतन्त्र धर्म है। वह वैदिक और बौद्ध मतोंसे भिन्न है। उसके माननेवाले भारतमें एक अत्यन्त प्राचीन कालसे होते आये हैं। भारतका प्राचीनतम पुरातत्व इस व्याख्याका समर्थक है; क्योंकि उसमें जैनत्वको प्रमाणित करनेवाली सामिग्री उपलब्ध है।

'संक्षिप्त जैन इतिहास'के पूर्व भागोंमें इस विषयका सप्रमाण स्पष्टीकरण किया जाचुका है; इसलिये उसी विषयको यहां दुहराना व्यर्थ है। उसपर ध्यान देनेकी एक खास बात यह है कि जैनधर्म्म वस्तुस्वरूप मात्र है—वह एक विज्ञान है। ऐसा कौनसा समय हो सकता है जिसमें जैनधर्म्मका अस्तित्व तात्विक रूपमें न रहा हो? वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी महापुरुषोंकी 'देन' है, जो तीर्थङ्कर कहलाते थे। इस कालमें ऐसे पहले तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव थे। इस युगमें उन्होंने ही सर्व प्रथम सभ्यता, संस्कृति और धर्म्मका प्रतिपादन किया था। उनका प्रतिपादा हुआ धर्म्म उत्तर भारतके साथ ही दक्षिण भारतमें प्रचलित हो गया था। जैन एवं स्वाधीन साक्षीसे यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारतमें जैनधर्म्म एक अत्यन्त प्राचीनकालसे फैला हुआ था। पंचपाण्डवोंके समयमें उस देशमें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमिका विहार होनेके कारण जैनधर्म्मका अच्छा अभ्युदय हुआ था।

इन सब बातोंको जिज्ञासु पाठक महोदय इस इतिहासके पूर्व खण्ड (भा० ३ खण्ड १) में अवलोकन करके मनस्तुष्टि कर सकते है। उस खण्डके पाठसे उन्हें यह भी ज्ञात हो जायगा कि विन्ध्याचलपर्वतके उपरान्त समूचा दक्षिण प्रदेश ऐतिहासिक घटनाओंकी भिन्नताके कारण दो भागोंमें विभक्त किया जाता है।

वस्तुतः सुदूर दक्षिण भारतकी ऐतिहासिक घटनायें विन्ध्याचलके निकटवर्ती दक्षिणस्थ भारतसे भिन्न रही हैं। इसी विशेषताको लक्ष्य करके दक्षिण भारतके इतिहासकी रूपरेखा दो विभिन्न आकृतियोंमें उपस्थित की जाती है। किन्तु एक बात है कि यह भिन्नता विजयनगर साम्राज्यकाल (ई० १४ वीं से १६ वीं शताब्दि) के पहले पहले ही मिलती है; उपरान्त दोनों भागोंकी ऐतिहासिक धारायें मिलकर एक हो जाती है और तब उनका इतिहास अभिन्न हो जाता है। आगेके पृष्ठोंमें पाठक महोदय दक्षिण भारतके मध्यकालीन इतिहासका अवलोकन करेंगे। पहले, सुदूरवर्ती दक्षिण भारतके इतिहासमें वह पल्लवों, कादम्ब, चोल और गङ्ग वंशोंके राजाओंका वर्णन पढ़ेंगे। उनकी श्रीवृद्धिको चालुक्योंने हतप्रभ बना दिया था। चालुक्यगण दक्षिण पथसे आगे बढ़कर चेर, चोल और पाण्ड्य देशोंके अधिकारी हुये थे और उनके पश्चात् राष्ट्रकूट-वंशके राजाओंका अभ्युदय हुआ था। वे चालुक्योंकी तरह गुजरातसे लगाकर ठेठ दक्षिण भारत तक शासनाधिकारी थे। राष्ट्रकूटोंका परम सहायक मैसूरका प्राचीन गङ्गवंश था। गङ्गवंशके राजालोग मैसूरमें ईस्वी दूसरी शताब्दिसे स्वाधीन रूपमें शासन कर रहे थे।

चालुक्य, राष्ट्रकूट और गङ्ग वंशोंके राजाओंको चोल राजाओंने परास्त करके ब्राह्मण धर्मको उन्नत बनाया था, किंतु उनका अभ्युदय दीर्घकालीन न था। मैसूरके उत्तर-पश्चिममें कलचूरी वंशके राजालोग उन्नतशील हो रहे थे और मैसूरके पश्चिममें होयसलवंश राज्याधिकारी होरहा था। होयसलोंके हतप्रभ होने पर विजयनगर साम्राज्यकी श्रीवृद्धि

हुई, जिसमें आर्यसंस्कृतिका उल्लेखनीय पुनरुद्धार हुआ। किन्तु विजयनगर साम्राज्यका अन्त आर्यसंस्कृतिके लिये घातक सिद्ध हुआ; क्योंकि विजयनगर साम्राज्यके भव्य खंडहरों पर ही मुसलमान और ब्रिटिश राज्य-भवनका निर्माण हुआ। इसप्रकार संक्षेपमें दक्षिण भारतके इतिहासकी रूपरेखा है, जिसका विशेष वर्णन पाठकगण इस खण्डमें आगे पढ़ेंगे और देखेंगे कि इन विभिन्न राज्य-कालोंमें जैनधर्मका क्या रूप रहा था। राजवंशोंमें परस्पर धर्मभेद होनेके कारण कैसे-कैसे राज्यकीय परिवर्तन हुये थे, यह भी वह देखेंगे।

संक्षिप्त जैन इतिहास।

(भाग ३-खंड २)

मध्यकालीन-खण्ड।

दक्षिण-भारतका इतिहास।

(१)

(पल्लव और कादम्ब राजवंश)

(१)

पल्लव और कदम्ब राजवंश।

चेर, चोल और पाण्ड्य मंडलोंका संयुक्त प्रदेश तामिल अथवा द्राविड़ राज्य कहलाता था। प्रारम्भिक-कालमें चेर, चोल और पाण्ड्य राजवंश ही अपने-अपने मण्डलमें राज्याधिकारी थे, किन्तु उपरान्त उनमें परस्पर अविश्वास और अमैत्री उत्पन्न होगये, जिसका कटु परिणाम यह हुआ कि वे परस्पर एक दूसरेके शत्रु बनगये और आपसमें राज्यके लिये छीना-झपटी करके लड़ने-झगड़ने लगे। इस अवसरसे पल्लवादि वंशोंके राजाओंने लाभ उठाया, उनका उत्कर्ष हुआ।

पल्लवोंकी उत्पत्ति।

किन्हीं विद्वानोंका अनुमान है कि पल्लव-वंशके राजा मूल भारतीय न होकर उस विदेशी समुदायमेंसे एक थे, जो मध्य ऐशियासे आकर भारतमें राज्याधिकारी हुआ था। राइस सा० ने अनुमान किया था कि पल्लव-गण पल्हव अर्थात् 'पार्थियन' (Arsacidan Parthians) लोग थे,[1] किन्तु भारतीय विद्वान् उनके इस मतसे सहमत नहीं है। श्री रामास्वामी ऐय्यगर महोदय बताते हैं कि ईस्वी सातवीं शताब्दिके मध्य दक्षिण भारतमें पल्लव वंश प्रधान था। ईस्वी चौथी और पाचवीं शताब्दिके प्रारम्भ तक उनका उत्कर्ष कालके गर्भमें था। प्रारंभमें इस वंशके राजा 'काञ्चीके

१-मैकु०; पृष्ठ ५२-५३।

पड़ी थी। इस घटनासे दो वर्ष पहले चीनी यात्री ह्यूनत्साङ्ग पल्लव राजाकी राजधानी कांचीमें आया था। उसने यहांके निवासियोंकी वीरता, सत्यप्रियता, विद्यारसिकता और परोपकार भावकी बहुत प्रशंसा की है। उसके समयमें इस नगरमें लगभग एकसौ मठ थे, जिनमें दस सहस्रसे अधिक भिक्षु रहते थे। लगभग इतने ही मंदिर जैनोंके थे।[1] पल्लवोंकी एक अन्य राजधानी कृष्णाजिलेमें धरणीकोटा नामक नगर था, जिसका प्राचीन नाम धनकचक बतलाया जाता है। त्रिलोचन पल्लवकी यही राजधानी थी। दूसरी-तीसरी शताब्दिमें यहाके किलेको जैनोंके समयमें मुक्तेश्वर नामक राजाने बनायाथा।[2]

काञ्चीमें जैनधर्म।

काचीनगर जैनधर्मका प्राचीन केन्द्रीय स्थान था। चीनी यात्री ह्युनत्सागके समयमें भी यहा जैनोंका प्राबल्य था। दिगम्बर जैन और उनके मंदिरोंकी संख्या अत्यधिक थी।[3] जैन साहित्यसे भी काचीपुरमें जैनधर्मके प्रधान होनेका पता चलता है। यहाका जैनसंघ उत्तर भारतके जैनियोंको भी मान्य था। प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री भट्टाकलंकदेवने यहीं राजा हिमसीतलकी सभामें बौद्धोंको परास्त किया था।

पल्लव राजा और जैनधर्म।

पल्लव वंशके कई राजाओंका सम्पर्क जैनधर्मसे रहा था। नंदिपल्लवके वेदल शिलालेख एवं अर्काट जिलेके अन्तर्गत तिन्दिवनम् तालुकेसे प्राप्त एक अन्य पल्लव शिलालेखसे पल्लवों द्वारा जैनधर्म संरक्षण वार्ताका समर्थन होता है।[4] तामिल

१–लाभाइं०, पृ० २९७. २–ममैप्राजैस्मा०, पृ० २३. ३–मद्दिइं०, पृ० ४७४. ४–जैशाइं०, पृ० ३३.

जैनग्रन्थ 'चूलामणि' को तोलमोलि देवरने राजा सेन्दन (६५० ई०) के राज्यकालमें इनके पिता राजा मारवर्म्मन् अवेर्नी चूलमनिकी स्मृतिमें रचा था। सालेम जिलेके धर्मपुरी नामक स्थानवाले लेखसे (नं० ३०७) प्रकट है कि राजा महेन्द्रवर्म्मनके समयमें श्री मंगलसेठीके पुत्र निधिपन्ना और चंदिपन्नाने तगदूरमें एक जिनालय बनवाया था। निधिपन्नाने राजा महेन्द्रसे मूलशल्ली ग्राम लेकर श्री विनयसेनाचार्यके शिष्य श्री कनकसेनजीको मंदिर जीर्णोद्धारके लिये अर्पण किया था।[२] राजा महेन्द्रवर्म्मन् स्वयं जैनधर्मानुयायी था। किन्तु शैव योगी अप्परने महेन्द्रको शैवमतमें दीक्षित कर लिया था। शैव होने पर महेन्द्रवर्म्मनने दक्षिण अर्काट जिलेके पाटलिपुत्रिम् नामक स्थानके प्रसिद्ध जैनमठको नष्टभ्रष्ट किया था और उसके स्थान पर शैव मठकी स्थापना की थी। इस घटनासे जैनधर्मको काफी धक्का लगा था। जिन ग्रामोंमें पहले जैनोंका अधिकार था उनमें ब्राह्मणोंको स्वामी बना दिया गया था।

पल्लव–कला। किन्तु पल्लव राजाओंके समयमें विद्या एवं कलाकी विशेष उन्नति हुई थी। महेन्द्रवर्मन् स्वयं कलाकार था। उसने 'दक्षिणचित्रम्' नामक चित्रशास्त्रकी रचना की थी।[३] उसके समयके बने हुये दो मंदिर मिलते है। (१) मामन्डूरका शैव मंदिर और (२) शित्तन्नवासलका जैन गुंफा मंदिर। शित्तन्नवासल पुद्दुकोटै राज्यकी राजधानीसे ९ मील उत्तर दिशामें अवस्थित दिगम्बर जैनोंका एक

१–पूर्व० पृ० ३५. २–मप्रजैस्मा०, पृ० ८१. ३–ओअ०, पृ० ६.

प्राचीन केन्द्रस्थान है। यहा पहाड़ीकी चोटी पर कुछ कोठरियाँ मुनियोंके ध्यानके लिये बनी हुई हैं, जिनमेंमे एकमें ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दिका एक ब्राह्मी लेख इस बातका द्योतक है कि उस समय इन कोठारियोंमें जैन मुनिगण रहा करते थे।[1] इस स्थानका मूल प्राकृत नाम 'सिद्धण्णवास' अर्थात् 'सिद्धोंका डेरा' है। इससे अनुमान होता है कि यह कोई निर्वाणक्षेत्र है। किन्हीं महा मुनीश्वरने यहासे सिद्ध पद प्राप्त किया होगा; इसीलिये यह क्षेत्र 'सिद्धण्णवास' रूपमें प्रसिद्ध हुआ। यहा एक जैन गुहामंदिर है, जिसकी भीतोंपर पूर्व पल्लव राजाओंकी शैलीके चित्र है। यह चित्र राजा महेन्द्रवर्मनके ही बनवाये हुये है और अत्यन्त सुन्दर हैं। मंदिरके मंडपमें संपर्यंक आसनसे स्थित पुरुष परिमाण अत्यन्त सुगढ़ और सुंदर पाच तीर्थंकर मूर्तिया विराजमान है; जिनमेंसे दो मंडपके दोनों पार्श्वोंमें अवस्थित है। यहा अब दीवारों और छतपर सिर्फ दो-चार चित्र ही कुछ अच्छी हालतमें बचे हैं। इनकी खूबी यह है कि बहुत थोड़ी परन्तु स्थिर और दृढ़ रेखाओंमें अत्यन्त सुन्दर और मूर्त आकृतिया बड़ी उस्तादीके साथ लिख दीगई हैं। छाया आदि डालनेका प्रयत्न प्राय नहीं किया गया। रंग बहुत थोड़े है - सिर्फ लाल, पीला, नीला, काला और सफेद। इन्हींको मिलाकर कहीं-कहीं कुछ और हरा, पीला, जामुनी, नारंगी आदि रंग भी बना लिये गये है। इतनी सरलतासे बनाये गये इन चित्रोंमें भाव आश्चर्य-जनक ढंगसे स्फुट हुए हैं और आकृतियां सजीवसी जान पड़ती है।

1-इआ०, सन् १९३०, पृ० ९-१०।

सारी गुहा कमलोंसे अलंकृत है। सामनेके दोनों खम्भोंको आपसमें गुँथी हुई कमलनालोंकी बेलोंसे सजाया गया है। खम्भोंपर नर्तकियोंके चित्र हैं। बरामदेकी छतके मध्यभागमें एक पुष्करजीका चित्र है। हरे कमलपत्रोंकी भूमिपर लाल कमल खिलाये गये है, जलमें मछलियां, हंस, जलमुर्गाबी, हाथी, भैसे आदि जल विहार कर रहे है। चित्रके दाहिनी तरफ तीन मनुष्य कृतियां है, जिनकी आकृतियां आकर्षक और सुन्दर है। दो मनुष्य इकट्ठे जल विहार करते दिखाये है, इनका रंग लाल दिया है, तीसरेका रंग सुनहला है और वह इनसे अलग है। इसकी आकृति बड़ी मनोमोहक और भव्य है। सौधर्मेन्द्रने तीर्थंकर भगवानके केवली होनेपर उनको उपदेश देनेके लिये 'समवशरण' नामक एक स्वर्गीय मण्डप रचा था। उसके चारों तरफ सात भूमियां होती है, जिनमेंसे गुजरकर ही कोई व्यक्ति उस प्रासादमें तीर्थंकरका उपदेश सुनने पहुच सकता है। इनमेंसे दूसरी भूमिका नाम 'खातिका' है। दिगम्बर जैन मूर्ति-शास्त्र 'श्रीपुराण' नामक ग्रन्थके अनुसार यह खातिका भूमि तालाब होती है, जहां पहुचकर भव्योंको स्नान और जलविहार करनेको कहा जाता है। उक्त चित्र इसी खातिका भूमिका है। अन्य बचे हुए चित्रोंमें दो नर्तकियोंके चित्र है जो अन्दर घुसते ही सामनेके दो खम्भोंपर बने है। एककी दाहिनी भुजा गज-हस्त और दूसरीकी दण्ड-हस्त मुद्रामें फैली है। इन चित्रोंमें कलाकारने मानों गहनोंसे लदी पतली कमर और चौड़े नितंबोंवाली, चीतेकी तरह प्रचण्ड शक्तिवाली और भव्य, स्वर्गीय अप्सराओंके और

शिवनटराजनकी कल्पनामें प्रकट होनेवाली नृत्य-ताल और प्रचण्ड स्फूर्तिको एक ही जगह चित्रित कर दिया है।[१] अन्दरके दाहिने खम्भेपर सम्भवत राजा महेन्द्रवर्मनका चित्र था, जिसके कुछ निशान बाकी है। इस प्रकार पल्लवकालीन ललित कालका यह मंदिर एक नमूना है और दक्षिणके जैन मंदिरोंमें अपने ढंगका अकेला है।

कळभ्र। उधर पाड्यदेशमें कलभ्र राजवंशका आश्रय पाकर जैनधर्म एक समय खूब ही उन्नत हुआ था। ईस्वी ५-६ वीं शताब्दिमें कलभ्रोंका आक्रमण दक्षिण भारत पर हुआ और उन्होंने चोळ, चेर एवं पाड्य राजाओंको परास्त करके समग्र तामिल देश पर अधिकार जमा लिया था। कहा जाता है कि कलभ्रगण कर्णाटक देशके मूलनिवासी 'कल्लर' जातिके लोग थे। पाण्ड्यराजाओंको जीतनेके कारण उन्होंने 'मारन' और 'नेदुमारन' विरुद धारण किये थे। इनके अतिरिक्त उनके दो विरूद 'कलभ्रकल्वन' और मुत्तुरैयन (तीन देशोंके स्वामी) भी थे। 'पेरियपुराणम्' नामक ग्रन्थमें उन्हें कर्णाटक देशका राजा लिखा है। निस्सन्देह उनका राजशासन तीनो ही चेर, चोल, पाठय देशों पर निर्बाध चलता था। जैसे ही वह तामिळ देशमें अधिकृत हुये, कलभ्रोंने जैन धर्मको अपना लिया। उस समय

३-ओभ०, अक ६ पृष्ठ ७-८. श्री रामचन्द्रन् महोदयने यह वर्णन लिखा है और उल्लिखित तामिल ग्रंथके आधारसे तालावको समवशरणकी द्वितीय भूमि बताया है। सभवतः यह ठीक है, परन्तु इस तालावमें भक्तजन स्नानादि करते थे या नहीं यह विचारणीय है।

वहां जैनोंकी संख्या भी अत्यधिक थी। उनके सहयोगसे प्रभावित होकर कहा जाता है कि कलभ्रोंने शैव धर्माचार्योंको दण्डित किया था। यह समय जैनधर्मके परम उत्कर्षका था। इसी समय प्रसिद्ध तामिलग्रन्थ 'नालदियार' जैनाचार्यों द्वारा रचा गया था। इस ग्रन्थमें दो स्थलों पर ऐसे उल्लेख हैं जिनसे पता चलता है कि कलभ्र जैनधर्मानुयायी और तामिल साहित्यके संरक्षक थे। 'नालिदयार' ग्रन्थमें नीतिशास्त्र विषयक चारसौ पद अङ्कित हैं, जिन्हें चारसौ दिगम्बर जैन मुनियोंने रचा था। और आज जिनका प्रचार दक्षिण भारतके प्रत्येक घरमें हुआ मिलता है।[२] कलभ्र राज्याश्रय पाकर जैनधर्म उनके समयमें खूब फूलाफला; परन्तु जब कदुन्गोन (Kadungon) एवं पल्लव राजाओंने उनको राज्यश्री-विहीन कर दिया तो पांड्यदेशमें जैनोंके अभ्युदयको काठ मार गया। मदुरा जो उस समय तक जैनधर्मका मूल केन्द्रस्थान था, वह ब्राह्मणोंके अधिपत्यको प्रगट करने लगा।

पाण्ड्यराज और जैनधर्म।

बात यह हुई कि महेन्द्रवर्म्मनकी तरह पाण्ड्यनरेश जिनको कुनसुन्दर अथवा नेदुमारन् पाण्ड्य कहते थे, जैनधर्मसे विमुख हो गये। उनका विवाह चोल राजकुमारी मङ्गयरकर्सियरसे हुआ था, जो शैव मतानुयायी और राजेन्द्र चोलकी बहन थी। शैवरानीने अपने गुरु तिरुज्ञानसम्बन्दरको बुला भेजा और उन दोनोंके उद्योगसे पाण्ड्यराज शैव मतमें दीक्षित हो गये।

१-साइंजै०, भा० १ पृ० ५३-५६. २-साइंजै० पृ० ९२.

शैव होने पर कुनसुन्दरने जैनोंको बेहद कष्ट दिये। धर्मान्धताकी चरमसीमाको वह पहुंच गया और उसने आठ हजार निरापराध जैनियोंको कोल्हूमें पिलवा कर मरवा डाला, केवल इसलिये कि उन्होंने शैव मतमें दीक्षित होना स्वीकार नहीं किया था। खेद है कि अर्काट जिलेके त्रिवतूर नामक स्थान पर उपस्थित शैव मंदिरमें इस धर्मान्धतापूर्ण व भीषण रोमांचकारी घटनाके चित्र दिवालों पर अङ्कित हैं और अब भी वहांके शिवमहोत्सवमें सातवें दिन खास तौर पर इस घटनाका उत्सव मनाया जाता है।[2] इस नवजागृतिके जमानेमें धर्मान्धताका यह प्रदर्शन घृणास्पद और दयनीय है।

चोल राजा और जैन धर्म।

उपरांत चोल राजाओंके अभ्युदयकालमें भी जैन धर्म पनप न सका। राजराज चोल तो जैनोंका कट्टर शत्रु था। उसके विरिञ्चिपुरम्के दानपत्रसे प्रगट है कि उसने एक धार्मिक कर भी जैनियोंपर लगाया था। जैनोंके और ब्राह्मणोंके खेतोंको उसने अलग-अलग कर दिया, जिससे जैनोंको हानि उठानी पड़ी, परन्तु इतनेपर भी जैन धर्मको यह शैवलोग मिटा न सके। स्वयं राजराजकी बड़ी बहनने तिरुमलयपर 'कुन्दवय' नामक जिनालय बनवाया था।[3] जैनाचार्योंने इस धर्मसंकटके अवसरपर बड़ी दीर्घदर्शितासे काम लिया। उन्होंने दक्षिणके अर्द्धसभ्य कुरुम्ब लोगोंको जैन धर्ममें दीक्षित करके अपना संरक्षक बना लिया।

१-अहिइं०, पृष्ठ ४९५. २-साइंजं० भा० १ पृ० ६४-६८ व अहिइं० पृ० ४७५. ३-जैसाइं०, पृ० ४३.

कदम्ब-वंश-वृक्ष ।

मयूरशर्मा (सन् २७५-३०० ई०)
|
कंगुवर्मा (सन् ३००-३२५ ई०)
|
भगीरथ (सन् ३२५-३४० ई०)

- रघु (सन् ३४०-३६० ई०)
- काकुस्थ (सन् ३६०-३९० ई०)
  - शान्तिवर्मा (३९०-४२०)
    - मृगेशवर्मा (४२०-४४५)
      - रविवर्मा (४६०-५००)
        - हरिवर्मा (५००-५२५)
      - भानुवर्मा
    - मानधात्रि (४४५-४६०)
  - कृष्णवर्मा प्रथम
    - विष्णुवर्मा
      - सिंहवर्मा
        - कृष्णवर्मा द्वि० (५२५-५६०)
          - अजवर्मा
            - भोगीवर्मा (५६०-६००)
              - विष्णुवर्मा

नकशा—दक्षिण भारत।

भीमा नदी
मयूर नदी
गोदावरी नदी
पंढरपूर
सोलापूर
बीदर
वरंदूल
कल्याण
मालखेड
हैद्राबाद
राजमहेंद्री
र ट्ट वा डी
कोल्हापूर
विजापूर
वे ङ्गी
अमरावती
कृष्णा नदी
बेळगाव
गोवा
पालासिका
विजयनगर
ते लु गू
कुं त ल
धारवाड
बनवासी
नोलंबवाडी
टोडैनाड
मद्रास
द्वारासमुद्र
कोलर
कांची
कुर्ग
गंगवाडी
तलकाड
सालेम
ता मि ळ
पलघाट
चो
मदुरा
पांड्य
कर्नाटक
और
तामिल आदि देश
o— — नगर
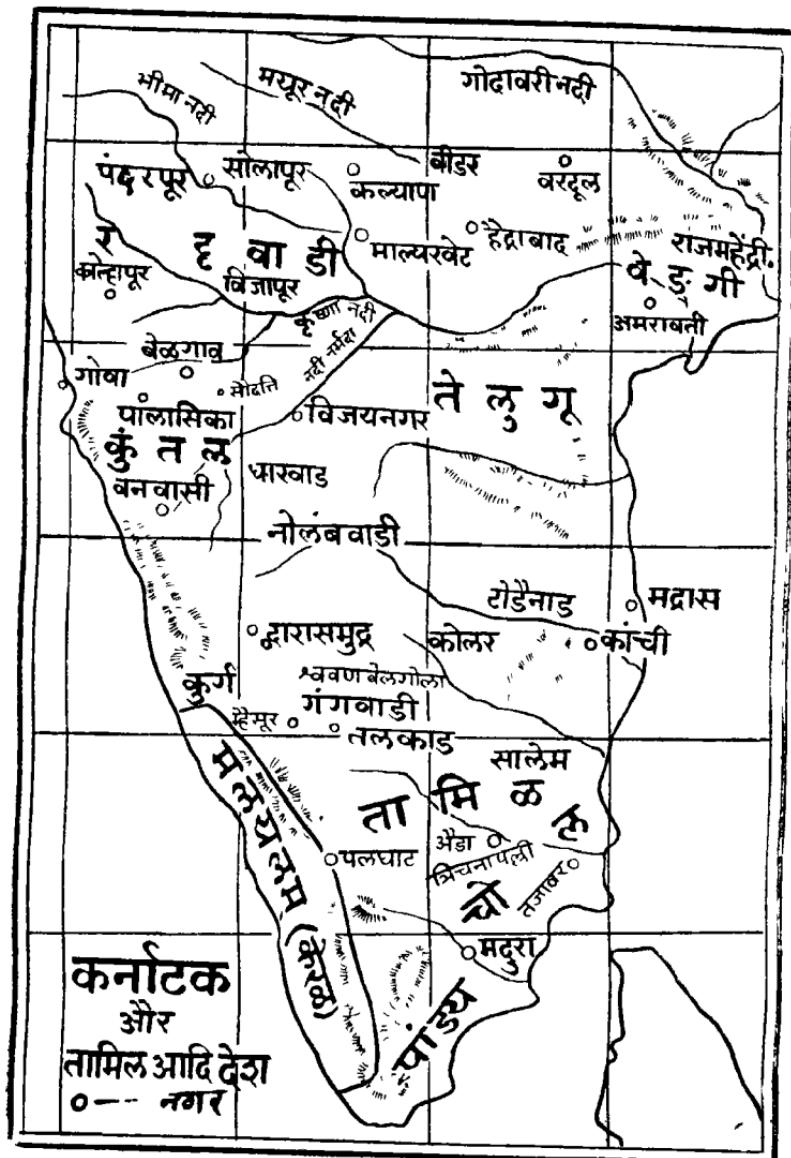
कुरुम्बगण बड़े ही वीर और धर्मश्रद्धालु थे। उनके मुख्य राजा कमन्दप्रभु कुरुम्ब थे और उनकी राजधानी पुलल थी; जहां उन्होंने कई भव्य जिनालय बनाये थे। जैन धर्मकी रक्षाके लिये कुरुम्बोंने चोलोंसे कई लड़ाइयां लड़ी थीं। आखिर अडोन्ड चोलने उन्हें परास्त कर दिया और जैन धर्म राज्याश्रयविहीन हो हतप्रभ होगया।

यद्यपि पल्लव और पाण्ड्य देशोंमें जैन धर्मकी महिमा क्षीण होगई थी, परन्तु पूर्वीय और पश्चिमीय

कदम्ब राजवंश। मैसूर एवं उसके आसपासके देशोंमें वह समृद्धिको प्राप्त था। इस समृद्धिका कारण वहांके तत्कालीन राजवंशोंद्वारा जैन धर्मको आश्रय मिलना था। मैसूरमें कादम्ब और गङ्ग वंशके राजाओंका शासनाधिकार चलता था। इनमेंसे कदम्ब वंशके राजाओंका अधिकार वर्तमान मैसूर राज्यके शिमोग और चितल्दुर्ग जिलों एवं उत्तर कनारा, धारवार और बेलगाव जिलोंपर था। इन कदम्बोंकी राजधानी बनवासी अथवा वैजयन्ती थी, जिसका उल्लेख यूनानी लेखक टोलमीने किया है[2] एवं श्री जिनसेनाचार्यने जिसे हरिवंशी राजा ऐलेयके वंशज नृप चरम द्वारा अस्तित्वमें आया बताया है।[3] सारांशतः बनवासी एक प्राचीन नगर था। बनवासीके कदम्बोंके सगोत्री कदम्ब गोआ और हांगलमें भी शासन करते थे, परन्तु वे विशेष बलवान और समृद्धिशाली नहीं थे। बनवासीके कदम्बोंका राज्यकाल सन् २५०

१–आइई०, पृ० १३२. २–जमीसो०, भा० २१ पृष्ठ ३१३-३१५.
३–हरि० सर्ग १७ व संजैइ०, भा० ३ खण्ड १ पृष्ठ ४७.

ई० से ६०० ई० तक अनुमान किया जाता है। जब कि गोआ और हांगलके कदम्बोंने सन् १०२५ से १२७५ ई० तक राज्य किया था। गोआके कदम्बोंकी राजधानी हल्सी (बेलगांव) थी।

कदम्ब वंशकी उत्पत्ति।

कदम्बोंकी उत्पत्तिके विषयमें कुछ भी निश्चित नहीं किया जासकता, क्योंकि इस विषयमें प्राचीन मान्यतायें अनुपलब्ध है। किन्तु यह स्पष्ट है कि कदम्बोंके आदि पुरुष मुक्कण्ण ब्राह्मण-वर्णके वीर पुरुष थे। उपरांतके वर्णनोंमें इस वंशकी उत्पत्ति शिव और पारवतीके सम्बन्धसे हुई बताई गई है और एक कथामें उन्हें नन्द राजाओंका उत्तराधिकारी लिखा है।[1] परन्तु यह कथन विश्वसनीय नहीं है। वास्तवमें कदम्ब वंशके राजालोग कर्णाटक देशके अधिवासी थे और उनका गृहवृक्ष (guardian tree) 'कदम्ब' था, जिसके कारण वह 'कदम्ब'के नामसे प्रसिद्ध हुये थे। तामिल साहित्यमें कदम्बोंका मूलनाम 'नन्नन' और उन्हें स्वर्णोत्पादक 'कोण्कानम्' प्रदेशका राजा लिखा है। साथही तामिल ग्रन्थकार उनका उल्लेख 'कदम्बु' नामसे करते है। अतः विद्वानोंका अनुमान है कि इन्हीं प्राचीन नन्नन कदम्बोंसे बनवासीके कदम्बराजाओंका सम्पर्क था।[2] संभवतः उनकी उत्पत्ति इन्हीं नन्नन-कदम्बोंमेंसे हुई थी।

प्रारम्भमें कदम्बवंशके राजागण वेदानुयायी ब्राह्मणोंके भक्त

१-क्वाजीसो०, भा० ११ पृ० ३१४-३१६. २-क्वाजीसो०, भा० २१ पृ० ३२४-३२६।

थे। उन्होंने ब्राह्मण धर्मको उन्नत बनानेके लिये भरसक प्रयत्न किये थे।

संयुक्त प्रांतीय बरेली जिलेके अहिच्छत्र स्थानसे ब्राह्मणोंको बुला कर मुकुण्ण कदम्बने कर्णाटक देशमें बसाया था। मुकुण्णके उत्तराधिकारी त्रिलोचन, मधुकेश्वर, मल्लिनाथ और चन्द्रवर्मा थे।

मयूरशर्मा।

चंद्रवर्माका उत्तराधिकारी मयूरवर्मा था, जिसे मयूरशर्मा भी कहते थे। वस्तुतः मयूरशर्मासे ही कदम्ब वंशका ठीक इतिहास प्रारम्भ होता है। उसके द्वारा ही कदम्ब वंशका अभ्युदय विशेष हुआ था। इसी कारण उसे ही कदम्ब वंशका संस्थापक कहते है। मयूरशर्मा स्तनकुन्डुर अग्रहारसे सम्बन्धित एक श्रद्धालु ब्राह्मण था। वह एक दफा अपने गुरु वीरशर्माके साथ पल्लवराजधानी काञ्चीमें विद्याध्ययन करनेके लिये गया। वहाँ एक पल्लव सैनिकसे उसकी तकरार होगई; जिससे चिढ़कर उसने बदला चुकानेकी ठान ली। मयूरशर्माने पल्लवों पर धावा बोल दिया और उनके सीमावर्ती प्रांतोंपर अधिकार जमाकर वह श्रीपर्वत् (श्रीशैलम्) पर अड्डा जमाकर बैठ गया। उपरान्त उसने बाणवंशी एवं अन्य राजाओंको भी अपने आधीन किया था। चन्द्रवल्लीके शिलालेखसे स्पष्ट है कि मयूरशर्माने त्रैकूट, अभीर, पल्लव, परियात्र, शकस्थान, पुन्नाट, मन्करि और अन्य राजाओंको परास्त किया था। इस प्रकार अपना एकछत्र राज्य स्थापित करके मयूरशर्माने धूमधामसे राज्याभिषेकोत्सव मनाया था। उसका राज्यकाल सन् २६०–३०० ई० बताया जाता है।

कंगुवर्मा–भगीरथ और रघु ।

मयूरवर्माका उत्तराधिकारी उसका पुत्र कंगुवर्मा था । जिसने सन् ३००–३२५ ई० तक राज्य किया था । इसने भी कईएक लड़ाइयां लड़ी थीं। उसके पश्चात् उसका पुत्र भगीरथ (३२५–३४०) राज्याधिकारी हुआ था । इस राजाका शासनकाल संग्रामरहित शांति और समृद्धिपूर्ण था इसकी ख्याति भी चहुं ओर थी। किन्तु इसका पुत्र रघु (३४०-३६०) संग्राम और विजयोंके लील क्षेत्रमें राजसिंहासनारूढ़ हुआ । उसके मुख पर शत्रुओंके अस्त्रप्रहारोंके अनेक चिह्न विद्यमान थे । उसने अपनी विजयों द्वारा कदम्ब राज्यका विस्तार इतना बढ़ाया था कि वह अकेला उसका प्रबंध नहीं कर सका था। परिणामत पलासिकमें उसने अपने भाई काकुस्थको वायसराय नियुक्त किया था । रघु अपनी प्रजाका प्यारा था ! शत्रु उसके नाम सुनते ही दहलते थे। वह वेदोंका प्रकाण्ड विद्वान् और एक प्रतिभाशाली कवि भी था ।

काकुस्थवर्मा ।

रघुके पश्चात् काकुस्थवर्मा (३६०–३९० ई०) राजा हुआ था । कदम्बर राजाओंमें वह महा बलवान था। अपने भाई रघुसे उसे न केवल विस्तृत साम्राज्य ही उत्तराधिकारमें मिला था, बल्कि सुप्रबन्धके लिये योग्य क्षमता भी उसने प्राप्त की थी । वह देखनेमें सुन्दर और अपने सम्बन्धियोंको अति प्यारा था । वह राज्यशासन करना अपना धर्म और स्वर्ग प्राप्तिका एक कारण समझता था । उसके राज्यकालमें प्रजा समृद्धिशालिनी थी और कृषिकी उन्नति

हुई थी। काकुस्थकी महानता उसके विवाह सम्बन्धोंसे भी स्पष्ट है जो गुप्त सम्राट् एवं अन्य बड़े बड़े राजाओंसे हुए थे। उसने कई इमारतें और एक सुन्दर स्थम्भ भी बनवाया था; जिसपर काव्यमई संस्कृत-भाषामें एक लेख अङ्कित है।

शांतिवर्मा

महाराज काकुस्थवर्माके दो पुत्र (१) शांतिवर्मा और (२) कृष्णवर्मा थे। शांतिवर्मा बड़े थे; इसलिये वह पहले युवराजपदपर आसीन रहे और बादमें राजा हुये। उन्होंने सन् ३९० से सन् ४२० ई० तक राज्य किया था। वह समग्र कर्णाटक देशके राजा और तीन मुकुटोंके धारक कहे गये हैं; जिससे प्रकट है कि कदम्ब-साम्राज्य तीन भागोंमें विभक्त था एवं उसकी पृथक्-पृथक् तीन राजधानियां (१) बनवासी (२) उच्छशृङ्गी (३) और पलासिका थीं। पलासिकामें उसका भतीजा इनकी छत्रछायामें राज्य करता था।

मृगेशवर्मा।

शांतिवर्माके पश्चात उसका पुत्र मृगेशवर्मा (सन् ४२०–४४५) सिंहासनारूढ़ हुआ था। वह एक महा पराक्रमी शासक था और उसे संग्राम एवं अनिक परिचालनमें ही आनन्द आता था। कहते है कि वह पल्लवोंके लिये बड़वानल और गङ्गोंका ध्वंशक था। मृगेशने केकय राजकुमारी प्रभावतीसे विवाह करके अपनी शक्तिको बढ़ाया था और अपनी कन्या वाकाटक नरेश नरेन्द्रसेनको ब्याही थी।

मृगेशका पुत्र रविवर्मा अल्पायुमें ही राज्याधिकारी हुआ। इसीलिये राजतंत्रकी बागडोर उसके चाचा

रविवर्मा ।

मानधातिवर्माके आधीन रही थी। परन्तु अल्पकालमें ज्यों ही रविवर्मा पूर्ण आयुको प्राप्त हुये कि उन्होंने राज्यशासनका भार अपने सुयोग्य कन्धोंपर उठाया और पूरी अर्द्धशताब्दि (४५०-५००) तक सानन्द राज्य किया। बनवासीके कदम्ब राजाओंमें यही अन्तिम प्रभावशाली राजा था। उसका शासनकाल दीर्घ और समृद्धिपूर्ण था। रविवर्माने कई संग्राम लड़े थे और उनमें वह विजयी हुआ था। उसका चाचा विष्णुवर्मा जो पलासिकमें राज्य करता था, उसके खिलाफ होकर पल्लवोंसे जा मिला था; परन्तु रविवर्माने उन सबको परास्त किया था। रविके हाथसे विष्णुवर्मा और काचीके चन्डदण्ड पल्लव तलवारके घाट उतरे थे। शासन प्रबन्धमें रविके छोटे भाई भानुवर्माने उसका खूब ही हाथ बंटाया था। रवि सन् ५०० ई० में स्वर्गवासी हुआ था।

उपरांत रविका पुत्र हरिवर्मा कदम्ब राजसिंहासनपर बैठा। हरिवर्माका यह दावा था कि उसने जो

हरिवर्मा ।

भी धन सञ्चय किया है वह न्यायोपार्जित है। अपने पारंभिक जीवनमें हरिवर्मा जैन धर्मानुयायी था, परन्तु अपने राज्यकालके सातवें-आठवें वर्षमें वह ब्राह्मणमतमें दीक्षित होगया था। हरिके पश्चात् महाराज कृष्णवर्मा द्वितीय राजा हुआ; जिसने अश्वमेध यज्ञ रचा था। खेद है कि

इसीके अंतिम समयमें कदम्ब साम्राज्य छिन्न-भिन्न होगया था। इसका पुत्र शोक और लज्जाके मारे साधु होकर चला गया था। और पल्लवोंने अपना झण्डा कदम्ब साम्राज्यके भग्न-खंडहर पर फहराया था।

कदम्ब वंशका पतन।

उपरान्त कृष्णवर्मा द्वितीयका उत्तराधिकारी अजवर्मा हुआ जरूर, परन्तु चालुक्यराज कीर्तिवर्माने उसे न कहींका बना छोड़ा। अजवर्माके पुत्र भोगिवर्माने अपने भुजविक्रमसे कदम्बोंकी लुप्त हुई श्रीको पुनः प्राप्त करनेका सदुद्योग किया और उसमें वह किंचित् सफल भी हुआ; परन्तु गङ्ग और चालुक्य वंशके राजाओंके समक्ष वह टिक न सका। चालुक्यराज पुलकेसिन् द्वितीयने सन् ६१२ ई० में बनवासीपर अधिकार जमाकर कदम्ब शक्तिका अन्त कर दिया।[1]

कदम्बोंकी उपाधियां।

कदम्ब राजघरानेका सम्बन्ध काकुस्थ-अन्वय और मानव्यस गोत्रसे था। 'स्वामी महासेन' और 'मातृगण' के अनुध्यानपूर्वक कदम्बराजा अभिषिक्त होते थे। यह स्वामी महासेन संभवतः कदम्ब वंशके कोई कुलगुरु थे। मातृगणसे अभिप्राय उन स्वर्गीय माताओंके समूहके मालूम होता है, जिनकी संख्या कुछ लोग सात, कुछ आठ और कुछ और इससे भी अधिक मानते हैं। जान पड़ता है कि कदम्ब वंशके राजघरानेमें इन देवियोंकी

१-जमीसो०, भा० २१ पृष्ठ ३१३-३२४.

भी बड़ी मान्यता थी। कदम्ब राजगण 'हारिती पुत्र' भी कहलाते थे, जो संभवतः उनके घरानेकी कोई प्रसिद्ध और पूजनीया महिला थी।[1] सिंह और वानर उनके ध्वजचिह्न थे, जो उनके सिक्कोंपर भी मिलते हैं। कमलका चिह्न भी उनके द्वारा प्रयुक्त हुआ था। उनका अपना अनोखा बाजा था, जिसे 'परमत्ति' कहते थे। उनके विरुद "धर्म-महाराजाधिराज" और "प्रतिकृति-स्वाध्याय-चर्चा-पारा" थे। उन्होंने राजत्वके आदर्शको प्रजाहितके लिये कुछ उठा न रख कर खूब ही निभाया था। अन्यायसे धन सचय करनेके वे विरुद्ध थे। प्रजाकी शुभ कामनायें उनके साथ थीं।[2]

कदंबोंकी राजधानियां और शासन-प्रणाली।

वनवासी कदम्बोंकी मुख्य राजधानी थी और बेलगाव जिलेमें पलासिका तथा चित्रकदुर्ग जिलेमें उच्चशृङ्गी उनकी प्रांतीय राजधानियां थीं, जहां उनके वायसराय रहा करते थे। त्रिपर्वत नामक एक अन्य राजधानीका भी उल्लेख मिलता है। इन स्थानोंपर राजकुलके पुरुष ही वायसराय होते थे। शासन व्यवस्थाकी सुविधाके लिये कदम्बोंने केंद्रीय शक्तिको कई विभागोंमें बांट दिया था। उनके लेखोंमें गृहसचिव सचिव प्रमुख प्रबन्धक आदिका उल्लेख हुआ मिलता है। साम्राज्यको भी कदम्बोंने 'मण्डलों' और 'विषयों' में विभाजित कर दिया था, जिसके कारण राज्यका प्रबन्ध करनेमें सुविधा होगई थी। अनेक ग्रामोंका

१-जैहि०, भा० १४ पृ० २२५ ..व जमीसो०, भा० २२ पृ० ५६.
२-जमीसो०, भा० २२ पृ० ५६-५७.

समूह ' विषय ' कहलाता था और कई विषयोंका समुदाय एक ' मण्डल ' होता था। एक प्रांतके अन्तर्गत ऐसे कितने ही मण्डल होते थे जिनपर एक वायसराय शासन करता था। इस माडलिकोंके ऊपर एक राजकुमार शासन और कर वसूल करनेके लिये नियुक्त किया जाता था। प्रजापर ३२ प्रकारका कर लगाया जाता था; परन्तु ग्रामवासी इन सब ही प्रकारके करोंसे मुक्त थे। उनसे फसलकी उपजमेंसे दस प्रतिशत राज्यकर वसूल किया जाता था। भूमिका नाप-तोल लिखा जाता था और नापका परिमाण ' निवर्तन ' कहलाता था, जो राजाके पैरके बराबर होता था। अनाजको तोलनेका परिमाण ' खण्डुक ' कहा जाता था। यदि कोई ग्राम अथवा भूमि किसी धर्म-संस्थाको भेट कर दी जाती थी, तो उसकी घोषणा आसपासके ग्रामोंमें करा दी जाती थी और सरकारी कर्मचारीगण उस ग्राममें जाते भी नहीं थे। कदम्बोंके सिक्के ' पद्मटंक ' कहलाते थे, जिनपर पद्म आदि पुष्प तथा सिंह आदि पशुओंके चित्र बने होते थे। कदम्बोंने अपने ही ढंगके सुन्दर मन्दिर और मनहर मूर्तियां बनवाई थीं; जिनके नमूने हल्मीमें ' सप्तमातृक ' मूर्ति एवं बादामी आदिके मन्दिर हैं।[1]

कदम्बवंशी राजाओंके अभ्युदयकालमें दक्षिण भारतमें प्राचीन नागपूजाके अतिरिक्त ब्राह्मण, जैन और बौद्ध, यह तीनो ही आर्यधर्म प्रचलित थे। जनतामें नागभक्तोंके उपरांत सबसे अधिक

कदम्ब राजा और जैन धर्म।

1-जमीसो०, भा० २२ पृ० ५६-५९.

संख्या जैनोंकी ही थी।[1] प्राचीन चैर, पांड्य और पल्लव राजवंशोंके प्रमुख पुरुष जैन धर्मके भक्त थे। उधर पूर्वीय मैसूरमें गङ्गवंशके प्रायः सब ही राजाओंने जैन धर्मको स्वीकार किया और आश्रय दिया था। किन्तु कदम्ब वंशके राजाओंने प्रारम्भमें ब्राह्मण मतको उन्नत बनानेका उद्योग किया। उनमेंसे कई राजाओंने हिंसक अश्वमेध यज्ञ भी रचे थे; परन्तु उपरांत वह भी जैन धर्मकी दयामय कल्याणकारी शिक्षासे प्रभावित हुये थे। मृगेशसे हरिवर्मातक कदम्ब राजाओंने जैन धर्मको आश्रय दिया था[2]। मृगेशवर्माका गार्हस्थिक जीवन समुदार था। उनकी दो रानियां थीं। प्रधान रानी जैन धर्मानुयायी थी, परन्तु दूसरी रानी प्रभावती ब्राह्मणोंकी अनन्य भक्त थी।[3] मृगेश स्वयं जैन धर्मानुयायी थे। उन्होंने अपने राज्यके तीसरे वर्षमें जिनेन्द्रके अभिषेक, उपलेपन, पूजन, भग्न संस्कार (मरम्मत) और महिमा (प्रभावना) कार्योंके लिये भूमिका दान किया था। उस भूमिमें एक निवर्तन भूमि खालिश पुष्पोंके लिये निर्दिष्ट थी।[4] मृगेशवर्माका एक दूसरा दानपत्र भी मिलता है, जिसमें उन्हें 'धर्ममहाराज श्री विजयशीव मृगेशवर्मा' कहा है और जो उसके सेनापति नरवरका लिखाया

१-After the Naga worship, Jainism claimed the largest number of votaries.—QJMS XXII, 61. २-जमीसो०, भा० २२, पृ० ६१. ३-जमीसो०, भा० २१, पृ० ३२१. ४-जैहि०, भा० १४, पृ० २२६-"श्री मृगेश्वरवर्मा आत्मनः राज्यस्य तृतीये वर्षे...बृहत् परलूरे (?) त्रिदशमुकुट परिघृष्टचारुचरणेभ्यः परमार्हद्देवेभ्यः संमार्जनोपलेपनाभ्यर्चनभग्नसंस्कार महिमार्थं...एकं निवर्तनं पुष्पार्थं।"

हुआ है । इस दानपत्रद्वारा उन्होंने कालवङ्ग नामक ग्राम अर्हत् पूजा आदि पुण्य कार्योंके लिये दान किया था।[1]

मृगेशवर्माका पुत्र रविवर्मा भी अपने पिताके समान जैन-धर्म भक्त था। उनका एक दानपत्र हल्सी (बेलगांव) से मिला है और उसमें लिखा है कि,—

" महाराज रविने यह अनुशासन पत्र महानगर पलासिकमें स्थापित किया कि श्री जिनेन्द्रकी प्रभावनाके लिये उस ग्रामकी आमदनीमेंसे प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमाको श्री अष्टाह्निकोत्सव, जो लगातार आठ दिनोंतक होता है, मनाया जाया करे; चातुर्मासके दिनोंमें साधुओंकी वैयावृत्य किया जाया करे और विद्वज्जन उस महानताका उपभोग न्यायानुमोदित रूपमें किया करें। विद्वत्मण्डलमें श्री कुमारदत्त प्रधान हैं, जो अनेक शास्त्रों और सुभाषितोंके पारगामी हैं, लोकमें प्रख्यात हैं, सच्चारित्रके आगार है, और जिनकी संप्रदाय सम्मान्य है। धर्मात्मा ग्रामवासियों और नागरिकोंको निरन्तर जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करना चाहिये। जहा जिनेन्द्रकी पूजा सदैव की जाती है वहा उस देशकी अभिवृद्धि होती है, नगर आधि व्याधिके भयसे मुक्त रहते है और शासकगण शक्तिशाली होते है।"[2]

रविवर्माका उक्त दानपत्र जैनधर्ममें उनके दृढ़ श्रद्धानको प्रकट करता है। वह स्वयं श्रावकके दैनिक कर्म, जिनपूजा और दानका अभ्यास करते मिलते हैं और अपनी प्रजाको भी इस धर्मका पालन

१–जैहि०, भा० १४ पृ० १२७. २–जैशाइं० पृष्ठ ४७–४८.

करनेके लिये उत्साहित करते हैं। उनके समान धर्मात्मा शासकोंके समयमें जनता धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंका समुचित पालन करके उनके सुमधुर फलका उपभोग करती थी। रविवर्माका भाई भानुवर्मा भी जैनधर्मका परम-भक्त था। उन्होंने भी जिनेन्द्रके अभिषेकके लिये भूमिदान दिया था। जिससे प्रत्येक पूर्णिमाको अभिषेक हुआ करता था। भानुवर्माके इस दानपत्रको उनके कृपा-पात्र पण्डर नामक भोजकने लिखा था; जो अपने स्वामीके समान ही दृढ़ आर्हत-भक्त था।[1] रविवर्माका उत्तराधिकारी हरिवर्मा भी अपने प्रारम्भिक जीवनमें जैनधर्मका श्रद्धालु था, परन्तु अपने अंतिम जीवनमें वह शैव होगया था। हरिवर्माने अपने चाचा शिवरथके कहने पर हल्सीका दानपत्र लिखाया था, जिसके द्वारा उसने अच्छशृङ्गीमें एक गाव कूर्चक संघके श्री वारिषेणाचार्यको अर्हतपूजाके लिये प्रदान किया था तथा अहरिष्टि संघके चन्द्रक्षान्त आचार्यको भी भारद्वाजवंशके सेनापति सिंहके पुत्र मृगेश द्वारा निर्मित अर्हत् मंदिरमें अभिषेक करनेके लिये भूमिदान दिया था।[2] सेन्द्रकवंशके नृप भानुशक्तिके कहने पर हरिवर्माने एक और दानपत्र लिखा था, जिसके द्वारा उन्होंने श्रमणाचार्य श्री धर्मनन्दिको अर्हतपूजाके लिये मारदे नामक ग्राम भेंट किया था।[3] इस प्रकार उपर्युल्लिखित कदम्बवंशी राजाओंके शासनकालमें जैनधर्म अभ्युदयको प्राप्त हुआ

१-गैब०, पृ० २७९ व जैसाइं०, पृ४ ४९. २-गैब०, पृ० २९०, प्रो० भाण्डारकरने आचार्यका नाम वारिषेण लिखा है, जबकि प्रो० एस० आर० शर्मा उनका नाम वीरसेनाचार्य लिखते हैं। (जैसाइं०, पृ० ५०). ३-जैसाइं पृ० ५०.

था—परम अहिंसाधर्म सर्वत्र प्रसरित हुआ था, धर्मके नामपर पशुओंकी निरर्थक हिंसा होना बन्द होगई थी। सर्वत्र अहिंसा और सत्य धर्मका दिव्य आलोक व्याप्त था। जैनत्वकी मुहर राजा और प्रजाके हृदयों पर लगी हुई थी। कदम्बोंके राजकविगण जैनी थे, उनके सचिव और अमात्य जैनी थे, उनके दानपत्र लेखकगण भी जैनी थे और उनके व्यक्तिगत नाम भी जैनी थे। कदम्बोंके साहित्यकी रूपरेखा भी जैन काव्यशैलीकी थी।[1] कदम्बोंकी राजधानी पलासिकामें जैनोंकी भिन्न संपदायों अर्थात् यापनीय, निर्ग्रन्थ, कूर्चक, अहराष्ट्रि और श्वेतपट संघोंके आचार्य शांतिपूर्वक रह कर धर्मप्रचार करते थे।[2] जैनत्वका यह प्रबल रूप उपरातके शैव कदम्ब राजाओंको भी प्रभावित करनेमें सफल हुआ था। ब्राह्मण-भक्त होने और अश्वमेघ रचनेपर भी उन्होंने जैनोंको दान दिये थे। धर्म महाराज श्री कृष्णवर्मा द्वितीयके प्रिय पुत्र युवराज देववर्माने त्रिपर्वतके ऊपरका कुछ क्षेत्र अर्हत् भगवानके चैत्यालयकी मरम्मत, पूजा और महिमाके लिये यापनीय संघको दान किया था।[3] दानपत्रमें देववर्माको 'कदम्ब-कुल-केतु'—'रणप्रिय-' दयामृत-सुखास्वादपूतपुण्यगुणेप्सु'—'देववर्म्मैकवीर' लिखा है; जिसमें उनके

१-"Their (Kadambas') poets were Jains, their ministers were Jainas; some of their personal names were Jaina, the donees of their grants were Jaina—The type of literature as evidenced by the Goa copper-plates was of the Jaina Kavya Kind—Prof. B S. Rao. साइंजै०, भा० २ पृष्ठ ८५.

२-क्मीसो०, भा० २२ पृ० ६१. ३-जैशाइ०, पृ० ५१.

महान् व्यक्तित्वका पता चलता है। सारांशतः कदम्ब वंशके राजाओं द्वारा जैन धर्मका अभ्युदय विशेष हुआ था।

जैन संप्रदाय। कदम्ब-साम्राज्यमें दिगम्बर जैन धर्म ही प्रबल था, यद्यपि उस समय वह कई संघों जैसे यापनीय कूर्चक, अहिरिष्ट आदिमें विभक्त होगया था। परन्तु दिगम्बर जैनोंके साथ ही श्वेताम्बर जैनोंका अस्तित्व भी कदम्ब राज्यमें था। कदम्ब दान-पत्रोंमें उनको 'श्वेतपट' लिखा गया है, जब कि दिगम्बर जैनोंका उल्लेख 'निर्ग्रन्थ' नामसे हुआ है।[1] मालूम ऐसा होता है कि उस समयतक दिगम्बर जैनी अपने प्राचीन नाम 'निर्ग्रन्थ' से ही प्रसिद्ध थे। उनके साधु नंगे रहा करते थे, जिनका अनुकरण श्वेतपत्र जैनोंके अतिरिक्त शेष सब ही संप्रदायोंके जैनी किया करते थे। अहिरिष्ट निर्ग्रन्थ संभवतः कलिङ्ग देशतक फैले हुए थे, क्योंकि बौद्ध ग्रंथ 'दाठा वंश' से प्रगट है कि कलिङ्गका गुहशिव नामक राजा अहिरिक-निर्ग्रन्थोंका भक्त था। जब गुहशिवके बौद्ध मंत्रीने उसे जैन धर्मके विमुख कर दिया था, तब यह निर्ग्रन्थ पाटलिपुत्रके राजा पांडुके आश्रयमें जारहे थे।[2] हमारे विचारसे यह अहिरिक-निर्ग्रन्थ और कदम्ब दानपत्रमें उल्लिखित अहिरिष्ट-निर्ग्रन्थ एक ही थे। इन्हींका उल्लेख संस्कृत ग्रंथोंमें संभवतः अह्रीक नामसे हुआ है।

१-जैहि०, भा० १४, पृ० २२७. २-दाठावंशो पृ० १०-१४ व दिदिमु० पृ० ५८ व १२४.

यापनीय दिगम्बर जैन संघ।

यापनीय-संघकी उत्पत्ति तीसरी शताब्दिमें हुई कही जाती है। देवसेनाचार्यने 'दर्शनसार' में लिखा है कि विक्रमराजकी मृत्युके २०५ वर्ष पश्चात् कल्याणनगरमें श्वेताम्बर साधु श्रीकलशने यापनीय संघकी स्थापना की थी।[1] श्री रत्ननन्दिजी 'भद्रबाहु चरित्' में इस संघकी उत्पत्तिके विषयमें लिखते हैं कि करहाटकमें राजा भूपाल राज्य करते थे, जिनकी प्रिय रानी नृकुलदेवी थीं। रानीने एकदा राजासे उसके गुरुओंको बुलानेके लिए कहा। राजाने बुद्धिसागर मंत्रीको भेजकर उन गुरुओंको बुलवाया; किंतु जब वे आये और राजाने देखा कि वे दिगंबर न होकर वस्त्रधारी साधु हैं तो उसके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। वह चुपचाप रनवासमें लौट आया। रानीको जब यह बात मालूम हुई तो वह जल्दीसे अपने गुरुओंके पास गई और उन्हें समझा-बुझाकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष धारण करा दिया। राजा उनका बाह्य भेष देखकर प्रसन्न हुआ। उन साधुओंकी शेष क्रियायें श्वेताम्बरीय साधुओंके समान रहीं; इसीलिये वे लोग 'यापनीय' नामसे प्रख्यात होगये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यापनीय संघके साधुओंने दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके बीचमें 'मध्यमार्ग' ग्रहण किया था। वे रहते तो थे दिगम्बरोंकी तरह नंगे और दिगम्बर प्रतिमाओंकी स्थापना कराते थे, परन्तु स्त्री मुक्ति और केवलीकवलाहार जैसे श्वेताम्बरीय सिद्धांतोंको भी मानते थे। इसीलिये उनका अपना स्वाधीन अस्तित्व था।

१-जैहि०, भा० १३.

शिलालेखीय शाक्षीसे यह ज्ञात है कि यापनीय संघके सधाधुओंका कार्यक्षेत्र कार्ईटाक देशके आसपास रहा है। केवल कदम्बवंशके राजाओंसे ही यापनीय संघके आचार्योंने सम्मान पाया हो, यह बात नहीं है; बल्कि राठौर और चालुक्यवंशोंके राजाओंने भी उनके आचार्योंका आदर किया था। राठौर प्रभूतवर्ष (८१२ ई०) ने यापनीय संघके विजयकीर्तिके शिष्य अर्ककीर्तिको दान दिया था। इस दानपत्रमें यापनीय संघको नंदिगण और पुन्नाग-वृक्ष मूल संघसे सम्बन्धित लिखा है। पूर्वीय चालुक्यराज अम्म द्वितीय (९४५ ई०) ने भी यापनीय आचार्य दिवाकरके शिष्य मंदिरदेवको दान दिया था। ईस्वी १४ वीं शताब्दि तक यापनीय संघके अस्तित्वका पता चलता है। उपरांत वह दिगम्बर संघमें ही अन्तर्भुक्त हुआ प्रतीत होता है।[1]

जैन संघकी स्थिति।

कदंब और पल्लव राज्यकालके अंतर्गत जैन संघमें बहुत-कुछ उथल पुथल हुई प्रतीत होती है। जैन संघमें दिगम्बर और श्वेताबर संघभेद हुये सौ-दो-सो वर्ष ही व्यतीत हुये थे कि यापनीय-संघका जन्म हुआ मिलता है। हमारे ख्यालसे यापनीय संघकी स्थापना द्वारा उन आचार्योंका भाव पुनः एक दफा जैन संघको मिलाकर एक बना देना था; परन्तु वह आचार्य अपने इस उद्योगमें सफल नहीं हुये। उल्टे दिगम्बरों और

१-जर्नल ऑव दी यूनीवर्सिटी ऑव बोम्बे, भा० १ संख्या ६ में प्रगट प्रो० उपाध्येका लेख देखिए।

श्वेताम्बरोंमें अनेक संघ और गच्छ उत्पन्न होगए। उपरान्त यापनीयोंके प्रति जो कट्टरताका बर्ताव दिगंबर किया करते थे, उसमें भी शिथिलता आगई; यही कारण है कि उपरातके शिलालेखोंमें यापनीय आचार्योंकी गणना नन्दिगण और पुन्नाग–वृक्ष–मूलसंघमें की गई है। जैन संघके साधुओंमें जिस प्रकार साधु जीवनकी क्रियाओंको लेकर मतभेद और संघभेद हुये, उस प्रकार उनके भक्त श्रावक परस्पर अनैक्यमें गृमित हुये नहीं मिलते। श्रावकोंका मुख्य कर्तव्य दान देना और देवपूजा करना रहा है। इस समयके शिलालेखोंमें इन दो बातोंकी ही मुख्यता मिलती है। श्रावक धर्मायतनोंके लिये दान देते हुये मिलते है तथा जिनेन्द्र पूजाको प्रकर्षता भी वे दिया करते थे। दान, जिनेन्द्र पूजनके अतिरिक्त साधुओंको आहारदान देनेके लिये भी किया जाता था और एक ही दातार उदारतापूर्वक सब ही सम्प्रदायोंके साधुओंको दान देता था। श्रावकोंमें कट्टरता प्रतीत नहीं होती। उनकी पूजाके लिये जो मूर्तियां निर्मापित की जाती थीं वे प्राय: एक–समान दिगम्बर होतीं थीं। बेळगाममें यापनीय संघ द्वारा प्रतिष्ठित और स्थापित हुई जिन प्रतिमायें है, जिनकी पूजा आज भी दिगम्बरी निसंकोच भावसे कर रहे है।[१] उस समयके श्रावकोंको धर्म प्रभावना (महिमा) का भी ध्यान था। नया मन्दिर बनवानेके साथ ही वे पुराने मंदिरोंका जीर्णोद्धार करते थे।

जैन धर्मका प्रकर्ष तबतक इतना अधिक था कि तिरुज्ञान-समन्दर और अप्पर सदृश विधर्मी आचार्योंको

१–पूर्व प्रमाण पृष्ठ २२८.

जैनधर्म और इतर संप्रदाय । उनसे मोर्चा लेना पड़ा था। उन्होंने अपने ग्रंथोंमें जैनोंका खूब ही उल्लेख किया है। इस प्रकार जैनोंको उस समय अपने घरमें उत्पन्न मतविग्रहको शमन करनेके साथ ही विधर्मी लोगोंसे भी मुकाबिला लेना पड़ता था। इस आवश्यक्ताका अनुभव करके ही मालूम होता है, उन्होंने अपना संगठन किया था। 'दिगम्बर दर्शन' नामक ग्रन्थसे प्रगट है कि सन् ४७० ई० में श्री पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिने मदुरामें 'द्राविड संघ' की स्थापना की थी; जिसमें वे सब ही जैन साधु सम्मिलित हुये थे जो दक्षिण भारतमें जैन धर्मका प्रचार करनेमें व्यस्त थे।[२] ब्राह्मण लोग अपने साहित्य संघमें जैनोंको स्थान नहीं देते थे। इस अपमानको उस समयके विद्वान् जैन साधु सहन नहीं कर सके। उन्होंने अपना अलग 'संघ' स्थापित किया और धर्म एवं साहित्यकी उन्नतिमें संलग्न होगये। अजैनों पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ा और जैनी अपनी संस्कृतिको सुरक्षित रखने और साहित्यको उन्नत बनानेमें सफल हुये।

तत्कालीन जैनधर्म । अजैन शास्त्रकारोंने जैनधर्मका अध्ययन करना आवश्यक समझा। सम्बन्दर और अप्पर एक समय स्वयं जैनी थे। जैन धर्मका अध्ययन करके उन्होंने अपने शास्त्रोंमें उसका खंडन किया

२–साइजै०, भा० १ पृ० ५२ इन्द्रनन्दिजीने 'नीतिसार' में द्राविड़ संघकी गणना पंच जैनाभासोंमें की है; परन्तु शिलालेखीय साक्षीसे उसका सम्माननीय होना प्रमाणित है।

है। फिर भी जो कुछ भी उन्होंने लिखा है उससे तत्कालीन जैन धर्मके स्वरूपका पता चलता है। इस समय अर्थात् ई० ७ वीं–८ वीं शताब्दि तक जैनधर्मका केन्द्र मदुरा ही था। उसके आसपास अनैमले, मसुमले इत्यादि जो आठ पर्वत थे, उन पर जैन धर्मके अग्रणी साधु लोग रहा करते थे। उन्हींके हाथमें जैन संघका नेतृत्व था। वे जैन साधुगण एकान्तमें रहते थे–जन समुदायसे प्रायः कम मिलते थे। वे प्राकृत भाषा बोलते और नाकके स्वरसे मन्त्रोंका उच्चारण करते थे। वेद और ब्राह्मणोंका खंडन करनेमें हमेशा तत्पर रहते हुए वे तेज धूपमें ग्राम–ग्राम विचरते थे। उनके हाथोंमें अक्सर एक छत्री, एक चटाई और एक मोरपिच्छिका रहती थी। इन साधुओंको शास्त्रार्थ करनेका बड़ा चाव था और अन्य मतके आचार्योंको वादमें परास्त करनेमें उन्हें मजा आता था। वे केशलुञ्चन करते और स्त्रियोंके सम्मुख भी नग्न रहते थे। आहारके पहले वे अपने शरीरोंको स्वच्छ (स्नान) नहीं करते थे। वे घोर तपस्या करते थे और आहारमें मोंठ तथा मरुतवृक्ष (?) की पत्तियां अधिक लेते थे। वे शरीरमें भस्म (gallnut powder) भी रमाते थे। वे यंत्र-मंत्रके अभ्यासमें दक्ष थे और अपने मंत्रोंकी खूब प्रशंसा करते थे।[१] जैन साधुओंके इस वर्णनसे उनका प्रभावशाली होना स्पष्ट है। वे ज्ञान ध्यान और तपश्चरणमें लीन रहनेके साथ ही जैनधर्म प्रभावनाके लिए हरसमय दत्तचित्त रहते थे। इसका अर्थ यह है कि वे महान् पण्डित थे। उनके नेतृत्वमें जैनधर्मका अभ्युदय हुआ था।

१–साइजै०, भा० १, पृ० ७०–७१.

(२)

गङ्ग-राजवंश।

गङ्ग राजवंश।

दक्षिण भारतमें आन्ध्रराजवंश शक्तिहीन होनेपर ईसाकी प्रारम्भिक शताब्दियोंमें जो राजवंश शक्तिशाली हुये थे, उनमें गङ्ग राजवंश भी एक प्रमुख राजवंश था। पल्लव, कदम्ब, इक्ष्वाकु आदि राजवंशोंके साथ ही इसका भी अभ्युदय हुआ था और वर्तमान मैसूर राज्यमें वह शासनाधिकारी था। यद्यपि गङ्ग राजवंशकी उत्पत्तिके विषयमें कई किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं परन्तु यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारतका वह अत्यन्त प्रतिष्ठित राजकुल था। गङ्गवंशकी अपनी अनुश्रुति इस विषयमें यह है कि इक्ष्वाकुवंशी हरिश्चन्द्रके पुत्र भरत थे, जिनकी रानी विजयमहादेवीने एक दिन गंगा स्नान किया और वरदानमें गङ्गदत्त नामक पुत्र पाया। इन्हीं गङ्गदत्तकी सन्तति 'गङ्ग' वंशके नामसे प्रसिद्ध हुई। उज्जैनके राजा महीपालने जब गङ्गोंपर आक्रमण किया तो पद्मनाभ गङ्गने अपने दो पुत्रों-दिदिग और माधवको राजचिह्नों सहित दक्षिणकी ओर भेज दिया। उनके चचेरे भाई पहलेसे ही कलिङ्गमें राज्य कर रहे थे। इन दोनों भाइयोंने एक जैनाचार्यकी सहायतासे गङ्गराज्यकी स्थापना की।[1] कलिङ्गके गङ्ग राजाओंके शिलालेखोंमें भी गंगास्नानके वरदानस्वरूप जन्मे हुये गाङ्गेयकी सन्तान 'गङ्ग' राजा कहे गये हैं।[2] गङ्गनृप

१–इका० ७।२२५, २३६ व ३५ २–गङ्ग० पृष्ठ ५–६.

दुर्वनीतके गुम्मरेड्डिपुरके दानपत्रमें गङ्गराजाओंको यदुकुल शिरोमणि कृष्णमहाराजसे सम्बन्धित बताया है।[1] स्व० जायसवालजीने गङ्गकुलको मगधके कण्ववंशी राजाओंकी सन्तान अनुमान किया था; क्योंकि अंतिम कण्वराजा आन्ध्र नृपको पकड़कर दक्षिण लेगये थे और गङ्गोंका गोत्र भी कण्वयन है।[2]

कोङ्गुदेशके राजा।

एक अन्य विद्वान् अनुमान करते है कि वे कोङ्गुदेशमें राज्य करनेवाले राजाओंके वंशज है। 'कोङ्गुदेश राजाक्कल' में इन राजाओंके नाम निम्नप्रकार लिखे है:—

वीरराय चक्रवर्ती—गोविंदराय—कृष्णराय—कालवल्लभ—गोविंदराय—कन्नर (कुमार) देव—तिरुविक्रम।

गङ्गवंशके पहले राजाका नाम कोङ्गुणिवर्मन् था और उपरांत कई गङ्गराजाओंके वैसे ही नाम थे जैसे कि कोङ्गुदेशके उपरोक्त राजाओंके थे। उपर्युल्लिखित कालवल्लभ, गोविन्द और कन्नर राजाओंके राजमन्त्री नागनन्दि नामक जैनी थे। ऐसे ही कारणोंसे कोङ्गुदेशके प्राचीन राजवंशसे गङ्गराजवंशका सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।[3] किन्तु यह स्पष्ट है कि उनका सम्पर्क इक्ष्वाकुवंशसे था। सन् २२५ ई० से सन् ३४५ ई० तक इक्ष्वाकु वंशके राजाओंने आन्ध्र देशमें कृष्ण नदीसे उत्तर दिशामें स्थित देशपर राज्य किया था। श्री कृष्णरावका अनुमान है कि

१—पूर्व प्रमाण। २—पूर्व प्रमाण। ३—जमीसो०, भाग २६, पृ० २४७—२५४.

इन्हीं इक्ष्वाकु राजाओंकी सन्ततिमें गङ्ग राज्यके संस्थापक भ्रातृ-युगल थे। उधर यूनानी लेखक प्लिनीने कलिङ्गके गङ्गोंका उल्लेख 'गङ्गरिडै कलिङ्गै' (Gangaridae Kalingae) नामसे किया है।[1] गङ्ग शिलालेखों और यूनानी लेखकोंके वर्णनसे यह भी अनुमान होता है कि गङ्गोंके आदि पुरुष गङ्गा नदीके पासवाले प्रदेशमें बसते थे। वहांसे उपरांत वे कलिङ्ग और दक्षिण भारतको चले गए थे।[2] सारांशतः गङ्गोंका सम्बन्ध इक्ष्वाकु छत्रियों और गङ्गा नदीसे स्पष्ट है।

अच्छा, तो ईसाकी प्रारम्भिक शताब्दियोंमें इक्ष्वाकु–क्षत्रियोंके दो राजकुमार पेरूर नामक स्थानपर आये।

दिदिग–माधव व सिंहनंदी आचार्य। यह दोनो राजकुमार भाई–भाई थे और इनके नाम दिदिग और माधव थे। पेरूरमें, जो उपरांत वहांपर गङ्ग राज्यकी स्थापना होनेके कारण 'गङ्ग–पेरूर' नामसे प्रसिद्ध होगया, उन दोनों भाइयोंको श्री सिंहनन्दि नामक जैनाचार्य मिले। उन्होंने जैनाचार्यकी वन्दना की और उन्हें अपना गुरु स्वीकार किया। सिंहनन्दाचार्यने उन्हें समुचित शिक्षा प्रदान की और पद्मावतीदेवीसे उनके लिये एक वरदान प्राप्त किया। उन्होंने उन राजकुमारोंको एक तलवार भी भेट की और उनका राज्य स्थापित करा देनेका वचन दिया। गुरु महाराजके इस आश्वासनसे उन दोनो भाइयोंको अतीव प्रसन्नता

१–गङ्ग, पृ० ९. २–प्रोसीडिंग्स आठवीं आल इंडिया ओरियंटल कान्फ्रेंस, मैसूर, पृ० ५७२–५८२.

हुई और माधवने जयकारेके साथ वह तलवार हाथमें ली और अपना पौरुष प्रगट करनेके लिये उसके एक बारसे एक शिलाके दो टुकड़े कर डाले। सिंहनन्दिस्वामीने यह एक शुभ शकुन समझा और 'कर्निकरकलिकाओं' का एक मुकुट बनाकर उनके शीशपर रख दिया तथा अपनी मोरपिच्छिका ध्वजरूपमें उन्हें भेट की। साथ ही आचार्य महाराजने उन भाइयोंको प्रतिज्ञा कराके आदेश दिया कि "यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करोगे, यदि तुम जैन शासनके प्रतिकूल जाओगे, यदि तुम पर-स्त्री-लम्पटी होगे, यदि तुम मद्य-मांस भक्षण करोगे, यदि तुम दान नहीं करोगे, और यदि तुम रणाङ्गणमें पीठ दिखाकर भागोगे तो निश्चय तुम्हारा कुल नाशको प्राप्त होगा।" इस आदेशको दोनों भाइयोंने शिरोधार्य किया। उस समय मैसूर (जो तब गङ्गवाड़ीके नामसे प्रसिद्ध था) में जैनियोंकी अधिक संख्या थी और उनके गुरु भी श्री सिंहनन्दि आचार्य थे। गुरु आज्ञा मानकर जनताने दिदिग और माधवको अपना राजा स्वीकार किया। इस प्रकार श्री सिंहनंदि आचार्यकी सहायतासे गङ्ग राज्यका जन्म हुआ और इस राज्यमें अधिकृत प्रदेश 'गङ्गवाड़ी ९६०००' के नामसे प्रख्यात हुआ।[1]

गङ्ग राज्य।

उस समय गङ्गवाड़ीकी सीमायें इस प्रकार थीं—उत्तरमें उसका विस्तार मरन्डले (Marandale) तक था, पूर्व दिशामें वह टोण्डैमंडलम् तक फैला हुआ था, पश्चिममें चेर राज्यका निकटवर्ती समुद्र

१-गङ्ग, पृ० ५-७, इका० व जैशिसं० भूमिका पृ० ७१-७२.

था और दक्षिणमें कोङ्गुदेश था। साराशतः आधुनिक मैसूरका अधिकांश भाग गङ्गवाडीमें अंतर्भुक्त था और मैसूरमें जो आज कल गङ्गडिकार (गङ्गवाडिकार) नामक किसानोंकी भारी जन संख्या है वे गङ्गनरेशोंकी प्रजाके ही वंशज हैं। गङ्गराजाओंकी सबसे पहली राजधानी 'कुवलाल' व 'कोलार' थी, जो पूर्वी मैसूरमें पालार नदीके तटपर है। पीछे राजधानी कावेरीके तटपर 'तलकाड' को हटा लीगई जिसे संस्कृत भाषामें तलवनपुर कहा गया है। सातवीं शताब्दिमें मन्कुण्ड (चन्नपाटनसे पश्चिममें) राजगृह रक्खा गया और आठवीं शताब्दिमें श्री पुरुष नामक गङ्गनरेशने अपनी राजधानी बङ्गलोरके समीप मान्यपुर भी नियुक्त की थी। गङ्गोंका राजचिह्न मदगजेन्द्र लान्छन' (मत्त हाथी) और उनकी राजध्वजा 'पिञ्छध्वज' थी, जो फूलोंसे अंकित थी। दक्षिणके राजवंशोंमें वह प्रमुख जैन धर्मानुयायी राजवंश था।[1] गङ्गोंकी राजवंशावली, इतिहास और उनकी तिथियों उनके प्राप्त शासनलेखोंसे ही संकलित किये गये हैं, जिसका संक्षिप्त-सार यहां पाठकोंके ज्ञान वर्द्धनार्थ उपस्थित किया जाता है—

दिदिग कोङ्गुणिवर्म।

यह स्मरण रहे कि कलिङ्गके गङ्गोंसे भिन्नता प्रदर्शित करनेके लिये मैसूरके गङ्गराजा 'पश्चिमी गङ्गवंशके नरेश' कहे गये हैं। इन पश्चिमी गङ्गोंके आदि नरेश दिदिग थे जिनका दूसरा नाम कोङ्गुणिवर्म अथवा कोन्कनिवर्मन् भी था। दिदिगके इस नामको

१–गङ्ग०, पृ० ८ व जैशि स० पृ० ७१ (भूमिका)

उपरान्तके गङ्गराजाओंने विरुदरूपमें धारण किया था। यह ऊपर लिखा जा चुका है कि गङ्गराज्यके संस्थापक यही महापुरुष थे। दिदिगने मैसूरमें बाणावंशी राजाओंको परास्त किया और कोङ्कन-तटपर अवस्थित मण्डलि पर अधिकार जमाया था। इस स्थानपर अपने गुरुके उपदेशसे उन्होंने एक जिन चैत्यालय निर्मापित कराया था।[१] मारसिंहके कुडलूर दानपत्रसे प्रकट है कि 'कोङ्गुणिवर्मा (दिदिग) ने श्री अर्हद्भट्टारकके मतके अनुग्रहसे महान शक्ति और श्री सिंहनन्दाचार्यकी कृपासे भुजविक्रम और पौरुष प्राप्त किये थे।'[२] इनके छोटे भाई माधव इनको राज्य संचालनमें सहायता देते थे। कहा जाता है कि दिदिगने अधिक समयतक राज्य किया था।

किरिय माधव।

दिदिगके पश्चात उनका पुत्र किरिय (लघु) माधव राज्याधिकारी हुआ। उनका उद्देश्य प्रजाको सुखी बनाना था। निस्सन्देह गङ्ग राजनीतिमें राजत्वका आदर्श सम्यक् रूपेण प्रजाका पालन करना था। (सम्यक्-प्रजा-पालन-मात्राधिगतराज्य-प्रयोजनस्य) माधव एक योद्धा होनेके साथ ही कुशल विद्वान थे। वह नीतिशास्त्र, उपनिषद, समाजशास्त्र आदि शास्त्रोंके पंडित थे। कवियों और पंडितोंका सम्मान वह स्वभावतः किया करते थे। उन्होंने 'दत्तक सूत्र' नामक एक ग्रन्थ भी लिखा था।[२]

१-गङ्ग० पृ० २५-२६. २-जैसाइं० पृ० ५४. राइस सा० इनका राज्यकाल द्वितीय शताब्दि बतलाते हैं। एक दानपत्रमें उसका समय सन् १०३ ई० लिखा है। मैकु० पृ० ३२. २-गङ्ग० पृ० २६.

माधव और उनके पश्चात् दक्षिण भारतकी राजनैतिक परि-

राजनैतिक स्थिति।

स्थितिने ऐसा रूप ग्रहण किया कि जिसमें गङ्ग नरेशोंका ऐक्य सम्बन्ध पल्लवोंसे स्थापित होगया। पहले तो पल्लवोंने गङ्ग राज्यपर अधिकार जमाना चाहा; परन्तु जब कदम्ब राजाओंने उनसे विरोध धारण किया तो उनके निग्रहके लिये पल्लवोंने गङ्गोंसे मैत्री कर ली। गङ्ग राज्यका बल इस संधिसे बढ़ गया और आगे चलकर वह अपना राज्य सुदृढ़ बना सके। यह इस समयकी राजनीतिकी एक खास घटना है।[1]

माधवके उपरांत उनका पुत्र हरिवर्मा लगभग सन् ४३६

हरिवर्मा।

ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ और सन् ४७५ ई० तक संभवतः उसका राज्य रहा। पल्लवराज सिंहवर्म द्वितीयने उनका राजतिलक किया था। कहा जाता है कि हरिवर्माने युद्धमें हाथियोंसे काम किया था और धनुषका सफल प्रयोग करके अपार सम्पत्ति एकत्र की थी। इन्होंने ही कावेरी तटपर तलकाडमें राजधानी स्थापित की थी। इनकी सभामें ब्राह्मणोंने बौद्धोंको परास्त किया था। ब्राह्मणोंको इन्होंने दान दिये थे।[2] तगडूरके दानपत्रसे प्रगट है कि इस राजाने एक किसानको अप्योगाल नामक गांव इसलिये भेंट किया था कि उसने हेमावतीकी लड़ाईमें अच्छी बहादुरी दिखाई थी। वीरोंका सम्मान करना वह जानता था।[3]

१–गङ्ग० पृ० २६–२७. २–गङ्ग० पृ० २६. ३–मैकु०, पृ० ३३.

हरिवर्माके उत्तराधिकारी विष्णुगोप हुये, जिन्होंने जैनमतको तिलाञ्जलि देकर वैष्णवमत धारण किया था।

विष्णुगोप। उनके वैष्णव होनेपर जो पाच राजचिह्न इन्द्रने गङ्गोंको दिये थे वह लुप्त होगये। दानपत्रोंमें इन्हें 'शक्रतुल्य—पराक्रम, नारायण—चरणानुध्याता, गुरुगोब्राह्मण पूजक' इत्यादि कहा है, जिससे इनकी धार्मिकता स्पष्ट होती है।[1] राज्यसंचालनमें वह ब्रहस्पति तुल्य कहे गये है।[2]

विष्णुगोपका नाती और पृथ्वीगङ्गका पुत्र तदङ्गल माधव उनके बाद राजा हुआ। यह अपने पौरुष और

तदङ्गल माधव। भुज विक्रमके लिये प्रसिद्ध था। वह एक नामी पहलवान भी था। वह त्र्यम्बकदेवका उपासक था और ब्राह्मणोंको उसने दान दिए थे। यद्यपि वह स्वयं शैव था परन्तु उसने जैन मन्दिरों और बौद्ध विहारोंको भी दान दिया था। उसके राज्यकालमें गङ्गराज्यका उत्कर्ष हुआ था। कदम्बराज कृष्णवर्मन् द्वितीयकी बहन माधवको व्याही था, जिनकी कोखसे प्रसिद्ध गङ्गराजा अविनीतका जन्म हुआ था। माधवने भी अपने वीर योद्धाओंका सम्मान किया था।[3]

अविनीतका राज्यतिलक उसकी माँकी गोदमें ही होगया था। मालूम होता है कि उसके पिताने दीर्घकाल-

अविनीत। तक राज्य किया था और वह उनके स्वर्गवासी हो जानेपर जन्मा था। कहा

१—गङ्ग० पृ० ३१. २—मैकु०, पृ० ३४. ३—गङ्ग० पृ० ३१-३२.

जाता है कि एक दिन अविनीत कावेरी तटपर आये तो वहां उन्होंने सुना कि कोई उन्हें 'सतजीवी' कहकर पुकार रहा है। नदी पूरे वेगमें बह रही थी। अविनीत उसमें कूद पड़े और पार तैर गये। उनका व्याह पुन्नाट्के राजा स्कन्दवर्मनकी कन्यासे हुआ था।[1] शासन लेखोंमें प्रगट है कि अविनीतको शिक्षा दीक्षा एक जैनकी भांति हुई थी। जैन विद्वान् विजयकीर्त्ति उनके गुरु थे। अपने राज्यशासनके पहले वर्षमें उन्होंने उरनूर और पेरूरके जिन मन्दिरोंको दान दिया था। वैसे ब्राह्मणोंको भी उन्होंने दान[2] दिये थे। शासन लेखोंमें अविनीत शौर्यके अवतार–हाथियोंको वश करनेमें अद्वितीय और एक अनूठे घुड़सवार एवं धनुर्धर कहे गए हैं। वह देशकी रक्षा करनेमें संलग्न और वर्णाश्रम धर्मको सुरक्षित बनाए रखनेमें दत्तचित्त थे। यद्यपि उन्हें हरका उपासक कहा गया है, परन्तु उनका झुकाव जैन धर्मकी ओर अधिक था। अपने राज्यके प्रारम्भ और अंतमें उन्होंने जैनोंको खूब दान दिये थे–पुन्नडकी जैन बस्तियोंपर वह विशेष रूपेण सदय हुए थे।[3]

दुर्विनीत। अविनीतका पुत्र दुर्विनीत उनके बाद राजा हुआ। प्रारंभिक गङ्ग राजाओंमें वह एक मुख्य राजा था। उसके राज्यकालमें गङ्गराष्ट्रमें उल्लेखनीय परिवर्तन हुये थे। पुराने रिति रिवाज और राजनीतिमें उल्लेखनीय सुधार हुये थे–लोग समुदार होगए थे। मृत्यु समय अविनीतने अपने गुरु विजयकीर्तिकी सम्मतिपूर्वक अपने लघु

१–गङ्ग०, पृ० ३३. २–मैकु०, पृ० ३५. ३–गङ्ग० पृष्ठ ३४.

पुत्रको राजा घोषित किया था। दुर्विनीतको यह सहन नहीं हुआ–परिणाम स्वरूप भाइयोंमें गृहयुद्ध छिड़ा। दुर्विनीतकी सहायता चालुक्य राजकुमार विजयादित्यने की, जो दक्षिणमें राज्य संस्थापनकी चिन्तामें घूम रहा था। उसके भाईके सहायक कडवेट्टि और राष्ट्रकूट वंशोंके राजा हुये। विजयादित्यकी सहायतासे दुर्विनीत ही राज्याधिकारी हुआ। उसका विवाह विजयादित्यकी कन्यासे हुआ था। दुर्विनीतको राजगद्दी पर बैठा कर विजयादित्य विजय–गर्वसे आगे बढ़ा और कुन्तल देश पर उसने अधिकार जमाया। त्रिलोचन पल्लवको यह असह्य हुआ। उन दोनोंका घमासान युद्ध छिड़ा, जिसमें विजयादित्य काम आया। किन्तु दुर्विनीतकी सहायतासे विजयादित्यके पुत्र जयसिंह वल्लभने त्रिलोचनसे बदला चुकाया। कुछ तो चालुक्योंकी सहायताके लिये और कुछ कोङ्गुनाद प्रदेशको पल्लवोंसे पुनः वापस लेनेकी भावनासे दुर्विनीत बराबर पल्लवोंसे लडता रहा; परन्तु चालुक्योंमें गृहयुद्ध छिड जानेके कारण वह अपने इस मनोरथको सिद्ध न कर सका। तो भी उसने पल्लवोंसे अंधेरी, अलतुरु, पोरुरे, पेन्नगरे एवं कई अन्य स्थान छिन लिए थे। उसने अपने नानाकी राजधानी पुन्नाडको भी जीत लिया था।

दुर्विनीत एक विजयी वीर योद्धा तो थे ही, परन्तु वह स्वयं एक विद्वान् और विद्वानोंके संरक्षक थे। उनकी उदारता भेदभाव नहीं जानती थी। जैन, ब्राह्मण आदि सभी संप्रदायोंपर वह सदय

१–मङ्क० पृष्ठ ३५–३९.

हुए थे। उन्हें 'अविनीत-स्थिर-प्रज्वल' 'अनीत' और 'अरि-नृप दुर्विनीत' कहा गया है। वह कृष्णके समान वृष्णि वंशके रत्न बताये गए है। उनमें अतुल बल था, अद्भुत शौर्य था, अप्रतिम प्रभुता थी-अतिम विनय थी, अपार विद्या और असीम उदारता थी। उनका चरित्र युधिष्ठिरतुल्य था। उनमें राज्य संचालकनके लिये तीनो शक्तियां अर्थात प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति और उत्साहशक्ति पर्याप्त विद्यमान थीं। यद्यपि वह वैष्णव कहे गये हैं, परन्तु उनकी उदार हृदयता सब धर्मोंके प्रति समान थी।[1] एक शासन लेखके आधारसे राइस सा० बताते हैं कि 'शब्दावतार'के रचयिता प्रसिद्ध जैन वैयाकरण श्री पूज्यपादस्वामी उनके शिक्षागुरु थे। दुर्विनीतने अपने गुरुके पदचिह्नोंपर चलनेका उद्योग किया था। परिणामतः उन्हें भी साहित्यसे प्रेम होगया। कवि भारविके प्रसिद्ध काव्य 'किरातार्जुनीय' के १५ सर्गोपर उन्होंने एक टीका रची।[2] 'कवि राजमार्ग' में उनकी गणना प्रसिद्ध कन्नड कवियोंमें की गई है। "अवन्तीसुन्दरी-कथासार" की उत्थानिकासे प्रगट है कि कवि भारवि दुर्विनीतके राजदरबारमें पहुंचे थे और कुछ समयतक उनके महमान रहे थे। दुर्विनीतके किन्हीं शिलालेखोंमें उन्हें स्वयं 'शब्दावतार' नामक व्याकरणका कर्त्ता लिखा है। उन्होंने पैशाची प्राकृत भाषामें रचे हुए 'बृहत् कथा' नामक ग्रन्थका संस्कृत भाषान्तर रचा था। दुर्विनीत जैसे ही एक सफल ग्रन्थकार थे वैसे ही वह एक सफल शासक थे। प्रजाहितके लिये

१-गझ०, पृ० ४०-४१. २-मैकु०, पृ० ३५.

उन्होंने अपनी सम्पत्तिका सदुपयोग किया था। वह परास्त हुवे शत्रुका भी सम्मान करते थे। इसीलिये वह सबको प्यारे थे। दक्षिण भारतके राजाओंमें वह महान् थे।[1]

मुष्कर।

मुष्कर (मोकर) दुर्विनीतका पुत्र था-उनके बाद वही राज्याधिकारी हुआ। उसे कान्तिविनीत भी कहते थे। उसके दो भाई और थे, परन्तु वह उससे छोटे थे। उसका विवाह सिंधुराजकी कन्यासे हुआ था। बेकारीके निकट उसने 'मोकर वस्ती' नामक जैन मन्दिर बनवाया था; जिससे प्रगट है कि गङ्गराज उस दिशामें बढ़ गया था। मुष्करके समयसे गङ्गराजाका राजधर्म होनेका गौरव पुनः जैनधर्मको प्राप्त हुआ था।[2]

श्री विक्रम।

सिन्धु राजकुमारीकी कोखसे जन्मे मुष्करके पुत्र श्री विक्रम उनके पश्चात् राज्याधिकारी हुये; परन्तु उनके विषयमें कुछ विशेष हाल विदित नहीं होता। हां, यह स्पष्ट है कि अपने पिताकी भांति वह भी एक विद्वान् थे। राजनीतिका अध्ययन उनका उल्लेखनीय विषय था। वैसे विद्याकी चौदह शाखाओंमें वह निपुण कहे गए हैं। उनके दो पुत्र भूविक्रम और शिवमार नामक थे, जो उनके पश्चात् क्रमशः राज्याधिकारी हुये थे।[3]

१–गङ्ग०, पृ० ४३–४५ २–गङ्ग०, पृ० ४५ व मैकु०, पृ० ३७, ३–मैकु० पृ० ३७ व गङ्ग० पृ० ४५.

भूविक्रम । कारिकल चोलके प्रसिद्ध वंशकी राजकुमारी भूविक्रमकी माता थी । भूविक्रम एक महान् योद्धा और कुशल घुड़सवार थे । उनका शरीर सुडौल और सुन्दर था; यद्यपि उनका विस्तृत वक्षस्थल शत्रुओंके अस्त्र प्रहारोंसे चिह्नित होरहा था । युद्धोंमें निज पराक्रम दर्शाकर विजयी होनेके उपलक्षमें वह 'श्रीवल्लभ' और 'दुग्ग' विरुदोंसे समलंकृत थे । सातवीं शताब्दिमें जब कि गङ्ग राजा अपना राज्य पूर्व और दक्षिण दिशाओंमें बढ़ा रहे थे, तब कदम्बोंने गङ्ग राज्यके एक भागपर अधिकार जमा लिया । चालुक्यराज पुलिकेशिन द्वितीय भूविक्रमके समकालीन और कदम्बोंके शत्रु थे । भूविक्रमने उनसे संधि करके अपने शत्रुओंसे बदला चुकाया । विलन्दके महान् युद्धमें उन्होंने पल्लवसेनाको हराकर उनके राज्यपर अधिकार जमाया । उनका एक करद राजा बाणवंशी सचीन्द्र नामक था, जो महाबलिबाण विक्रमादित्य गोविन्दके नामसे प्रसिद्ध और जैनधर्मानुयायी था । भूविक्रमने उन्हें भूमि भेंट की थी । उन्होंने मानकुण्डमें राजगृह नियत किया था ।[1]

शिवमार । भूविक्रमके पश्चात उनका छोटा भाई शिवमार राजसिंहासन पर बैठा और दीर्घ कालतक उसने राज्य किया । पल्लवोंने अपना बदला चुकानेके लिये इनके शासनकालमें गङ्गराज्य पर आक्रमण किया था । किन्तु पल्लव सफलमनोरथ नहीं हुये; बल्कि

१-मैकु० पृ० ३७ व गङ्ग० पृ० ४६-४८.

गङ्ग–वंश–वृक्ष।

[नोटः—इस वंशवृक्षमें पहलेके राजाओंका समय राइस सा० ने आधुनिक मान्यतासे प्राचीन बतलाया था, इसलिये दोनों उल्लेख किये गये हैं।]

इक्ष्वाकु (सूर्यवंशी) धनंजय।

अयोध्याके राजा हरिश्चन्द्र

पद्मनाभ

- दढिग
  - माधव द्वितीय (किरियमाधव) (४००–४३५ ई० ?)
  - हरिवर्म्मा (४३६ ई० ? अथवा २४७–२६६ ई०)
  - विष्णुगोप
  - तडङ्गल माधव (३५७–३७० ई० अथवा ४५०–५०० ई० ?)
  - अविनीत (४३०–४८२ ई० अथवा ५२०–५४० ई० ?)
  - दुर्विनीत (४८२–५१७ अथवा ५४०–६०० ई० ?
  - मुष्कर (६५५–६६० ई० ?)
  - श्रीविक्रम (६६०–६६५ ई० ?)
    - भूविक्रम श्रीवल्लभ (६७० अथवा ६०८–६७० ई०)
      - कगकुरि राजा
      - [illegible]
      - राजवम
      - सिनादि
      - नृपतुङ्ग
      - अयतेग (शिवमार द्वि० के समकालीन)
    - नवकाम
      - शिवमार प्रथम (६७०–७१५)
      - श्रीपुरुष (७२६–७८८ ई०)
        - शिवमार द्वि० (७८८–८१२)
          - मारसिंह (८५३)
          - पृथिवीपति (८५३–८८०)
          - पृथिवीपति द्वि० (८८०–९२५) (राजमल्ल द्वि० के समकालीन)
        - विजयादित्य
          - राजमल्ल सत्यवाक्य (८१७–८५३)
          - नीतिमार्ग प्रथम (८५३–८६९)
          - ऐरयगंग प्रथम
            - राजमल्ल द्वि० (८७०–९०७)
            - बुटुग
              - ऐरयप्प
              - नीतिमार्ग द्वि० (८८७–९३५)
                - नरसिंह (९२०–९२२)
                - राजमल्ल तृतीय (९२२–९३७)
                - बुटुग द्वि० (९३७–९६०)
                  - मरुलदेव (राठौर कृष्ण तृतीयकी कन्या ब्याही)
                  - मारसिंह (९६१–९७१)
                    - राजमल्ल चतुर्थ (९७७–९८५)
                    - रक्कस–गङ्ग (९८५–१०२४)
                    - कन्या (राठौर इन्द्रको ब्याही जो सन् ९८४ ई०में स्वर्गवासी हुए)
                  - कन्या (राठौर इन्द्रकी माता)
        - दुग्गमार
- गंगवंश संस्थापक माधव प्रथम (कोंगुणिवर्म्मा) (सन् १०३ अथवा ३४०–४०० ई० ?)

उल्टे शिवमारके द्वारा वह परास्त किये गये और उन्हें राजकर देनेके लिये वह बाध्य हुये। हाँ, चालुक्यराज विनयादित्यकी सेनाने गङ्गोंको परास्त कर दिया था। चालुक्यराजा गङ्गोंको अपना करद समझते थे, परन्तु गङ्गोंने कभी उनको अपना सम्राट् स्वीकार नहीं किया। चालुक्य उन्हें हमेशा बड़े सम्मान और आदरकी दृष्टिसे देखते थे। गङ्गोंका उल्लेख उन्होंने 'मौल' नामसे किया है। शिवमारका दूसरा नाम अवनी महेन्द्र था। उसे 'नवकाम' और 'शिष्टप्रिय' भी कहते थे। उसका पुत्र एरगङ्ग था, परन्तु वह उसके जीवनमें ही स्वर्गवासी होगया था। दो पल्लव राजकुमार शिवमारके संरक्षणमें रहते थे।[२]

शिवमारके पश्चात् उसका पोता श्रीपुरुष गङ्ग राजसिंहासन पर सन् ७२६ ई० के लगभग आसीन हुआ।

श्रीपुरुष। गङ्ग राजाओंमें वह सर्वश्रेष्ठ राजा था। उसके शासनकालमें गङ्ग राष्ट्रकी ऐसी श्री-वृद्धि हुई कि वह 'श्री राज्य' के नामसे प्रसिद्ध होगया। युवराज अवस्थामें श्रीपुरुषने मुत्तरस नामसे कैरकुंड ५००, एलेनगरनाड ७०, अचन्यनाड ३०० और पोंकुंड १२ (कोलर जिला) प्रदेशों पर राज्य किया था। उसने बाणवंशी राजाओंसे लड़ाइयां लड़ी थीं और उन्हें अपना लोहा माननेके लिये बाध्य किया था। उसके शासनकालमें रट्ट (राठौर) राजा शक्तिशाली होरहे थे और उन्होंने गङ्गराजा पर भी आक्रमण किये थे। उधर चालुक्योंने भी पल्लव

१-गङ्ग० पृ० ५०. २-मैकु० पृ० ३७.

और पाण्ड्य देशों पर धावा बोला था। चालुक्योंसे बदला चुकानेके लिये कोङ्गुदेशके राजा नन्दिवर्मन्‌ने पाण्ड्यों और गङ्गोंसे संधि कर की और तीनोंने मिलकर चालुक्यों पर आक्रमण किया। सन् ७५७ ई० को वेम्बै (Vembai) के युद्धमें चालुक्यराज कीर्तिवर्मन् द्वितीयकी सेना बुरीतरह परास्त हुई। इस युद्धका चालुक्यों पर स्थायी असर पड़ा और वह जल्दी पनप न पाये। चालुक्योंसे निबट-कर कोङ्गु, पांड्य आदि राजाओंको अपना २ स्वार्थ साधनेकी धुन समाई। इसी बीचमें पल्लवोंने पाण्ड्योंसे युद्ध छेड़ दिया और उधर राठौर भी पल्लवोंसे आ जूझे। नन्दिवर्मन्‌ने गङ्गराज्य पर आक्रमण कर दिया; किन्तु श्रीपुरुषपर इन आक्रमणोंका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वह अपनी स्थितिको सुदृढ़ बनाये रहा। उसका सबसे बड़ा युद्ध पल्लवोंसे हुआ था। श्रीपुरुषका पुत्र सियगल्ल केसुमन्नुनाडुका शासक और सेनापति था। बिल्दी नामक स्थान पर हुये युद्धमें सियगल्लने पल्लवोंको बुरी तरह हराया था। श्रीपुरुषने वीर कदुवेट्टि (पल्लव) को तलवारके घाट उतारकर उसका विरुद 'पेरमनडी' धारण किया था। उपरांत यह विरुद गङ्ग राजाओंकी अपनी खास चीज़ होगया था। इस विजयसे श्रीपुरुषकी प्रसिद्धि विशेष हुई थी और उसे 'भीमकोप' उपाधि मिली थी। वह महान् वीर था। विनयलक्ष्मी उसकी चेरी होरही थी।[1]

श्री पुरुषको अपने राज्यकालके अन्तिम समयमें राठौर

१–गंगा० पृ० ५१–५५.

राजाओंसे भी मुकाबिला लेना पड़ा था।

राठौरोंसे युद्ध। आठवीं शताब्दिके मध्यवर्ती समयमें वे चालुक्योंको परास्त करके दक्षिणके अधिकारी होगए थे; जैसे कि पाठक आगे पढ़ेंगे। राठौर (अथवा राष्ट्रकूट) राजाओंके यह युद्ध भी राज्य विस्तारकी आकांक्षाको लिये हुये थे। इन युद्धोंकी आशङ्कासे ही संभवतः श्रीपुरुषने अपनी राजधानी मनकुण्डसे हटाकर मान्यपुरमें स्थापित की थी। श्रीपुरुषका सबसे भयानक युद्ध राठौर राजा कृष्ण प्रथम अथवा कन्नरस बल्लहसे हुआ था, जिसमें कई गङ्ग-योद्धा काम आये थे। पिन्चनुर और बोगेयूरके युद्धोंमें त्रिछत्रधारी वीर मुरुकोडे अन्नियर और पण्डित-शार्दूल श्रीरेवमन वीर गतिको प्राप्त हुये थे। कगेमोगीपुरके भयंकर युद्धमें श्रीपुरुषके स्वयं सेनापति मुरुगरेनाडुके सियगल्ल रणचंडीकी बलि चढ़ गये थे। सियगल्ल एक महान् योद्धा थे, जिन्होंने पल्लवोंसे खूब ही लडाइयां लड़ी थीं और जो संग्रामभूमिमें रामतुल्य एवं शौर्यमें पुरंधर कहे जाते थे। इन युद्धोंके परिणाम-स्वरूप कृष्ण प्रथम (राठौर) ने गंगवाडीपर किंचित् कालके लिए अधिकार जमा लिया था; किन्तु वृद्ध योद्धा श्रीपुरुष इस अपमानको सहन नहीं कर सके। उन्होंने शक्ति संचय करके राठौरोंपर आक्रमण किया और उन्हें गंगवाड़ीसे निकालकर बाहर कर दिया; बल्कि उनके राज्यके बेकारी प्रदेशके पूर्वी भागपर भी अधिकार जमा लिया।[१] वहां परमगुलकी रानी और पल्लवाधिराजकी पोती कंदच्छीने एक जिनालय बनवाया

१-गंग पृ० ५६-५८.

था। श्रीपुरुषने उसके लिये दान दिया। परमगुरु निर्गुण्डके राजा थे।[१]

श्रीपुरुषका महान् व्यक्तित्व।

यद्यपि श्रीपुरुषका अधिकांश जीवन युद्धोंमें ही व्यतीत हुआ था और वह स्वयं एक महान् योद्धा और विजेता था; परन्तु इतना होते हुये भी वह क्रूर और अत्याचारी नहीं था। उन्होंने हाथियोंके युद्ध विषयपर 'गजशास्त्र' नामक एक ग्रंथ रचा था। वह स्वयं विद्वान् था और विद्वानोंका आदर करना जानता था। कवियोंकी रचनायें और महात्माओंके उपदेशोंको वह बड़े चावसे सुनता था। उसकी उदारताके कारण अच्छे २ कवियों और विद्वानोंका समूह श्रीपुरुषकी राजधानीमें एकत्रित होगया था। कविगण उनकी प्रशंसा 'प्रजापति' कहकर करते थे। उनके राजमहलमें नित्य संत समागम और दानपुण्य हुआ करता था। यद्यपि वह जैन धर्मके श्रद्धानी थे, परन्तु ब्राह्मणोंका भी समुचित आदर करते थे। जैनोंके साथ ब्राह्मणोंको भी उन्होंने दान दिया था। उनके अनेक विरुदोंमें उल्लेखनीय यह थे: 'पृथिवीकोङ्कणी'–"कोङ्कणीमुत्तरस"–"पेरमनडी श्रीवल्लभ" और 'रणभञ्जन"। अपने अंतिम जीवनमें उन्होंने राजकीय उपाधि "कोङ्गनि–राजाधिराज–परमेश्वर श्रीपुरुष नामक धारण की थी।[२]

श्रीपुरुषकी दो रानियाँ विनेयकिन इम्मडि और विजयमहादेवी

१–मैकु० पृ० ३९. २–गंग, पृष्ठ ५८–५९.

नामक चालुक्य राजकुमारियाँ थीं। उनका

श्रीपुरुषके पुत्र। सर्वज्येष्ठ पुत्र शिवमार नामक था, जो अपने पिताके मृत्यु समय कडम्बूर और कुनगलनाड्ड नामक प्रांतोंका शासक था। विजयमहादेवीका पुत्र विजयादित्य कोरेगोड्डुनाड्ड और असंडिनाड्ड प्रांतोंपर शासन करता था; जहां उसके उत्तराधिकारी बहुत दिनोंतक राज्य करते रहे थे। एक अन्य पुत्र दुग्गमार नामक था, जो कोवलालनाड्ड, वेलतुरनाड्ड, पुलवकिनाड्ड और मुनउ प्रदेशोंका शासक था। सिवगेल्ल संभवतः उनके सर्वलघु पुत्र थे और यही उनके सेनापति थे। इन्होंने पल्लवों और राठौरोंसे अपने पिताके लिये बड़ी लड़ाइयां लड़ी थीं। अंतमें वह वीरगतिको प्राप्त हुये थे। उनकी पुण्यस्मृतिमें एक शासनलेख अङ्कित कराया था। इस प्रकार श्रीपुरुषका महान् राज्य अन्तको प्राप्त हुआ था।[1]

उनके पश्चात् उनका ज्येष्ठ पुत्र शिवमार राज्यसिंहासन पर सन् ७८८ ई० में बैठा था। राजसिंहासन

शिवमार। पर बैठते ही शिवमारको अपने छोटे भाई दुग्गमारसे झगड़ना पड़ा था, जो खुल्लमखुल्ला बागी होगया था। शिवमारके करद नोलम्बराज सिंगपोट अपना दलबल लेकर दुग्गमारसे जा भिड़े और उसे परास्त कर दिया। किन्तु राज्यारम्भमें हुआ यह अमंगल अन्त तक अमंगल सूचक ही रहा। शिवमारके शासनकालमें गङ्गोंका भाग्य ही पलट गया। नौबत यहां तक पहुंची कि गङ्ग वंशके अन्त होनेकी आशङ्का उप-

---

१–पूर्व० पृ० ५९.

स्थित हुई थी। बात यह हुई कि राठौर राजा कृष्ण प्रथमने पूर्वी चालुक्योंको परास्त करके उनके राज्य पर अधिकार जमा लिया था। शिवमारको राठौर राजा ध्रुव निरूपमने गिरफ्तार करके अपने यहां कैदखानेमें रक्खा था, क्योंकि उसने ध्रुवके विरुद्ध उसके भाई गोविंदकी सहायता की थी। गङ्गवाड़ी पर राज्य करनेके लिये उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र खम्बको नियुक्त किया। गङ्ग प्रजाका इस परिवर्तनसे दिल दहल गया थी।

राजनैतिक परिस्थिति।

ध्रुव निरूपमकी आन्तरिक इच्छा थी कि उसके पश्चात् उसका लघु पुत्र गोविंद राज्यका अधिकारी हो। इसी भावसे उसने खम्बको गङ्गवाड़ी पर राज्य करने भेज दिया था। खम्बने रणावलोक खम्बैय नामसे अपने पिताके जीवनभर गंगवाड़ी पर राज्य किया, परन्तु ज्यों ही उनकी मृत्यु हुई और सन् ८९४ ई०में उसका छोटा भाई गोविंद राजसिंहासन-पर बैठा कि वह उसके विरुद्ध होकर स्वयं राजा बननेका प्रयास करने लगा। गोविंदने इस समय शिवमारको इस नीयतसे बन्धनमुक्त कर दिया था कि वह खम्बसे जा लड़ेगा; परन्तु शिवमारने ऐसा नहीं किया। उसने राजत्वसूचक उपाधियां धारण कीं और खम्बसे संधि करली। शिवमारने राठौरों, चालुक्यों और हैहय राजाओंकी संयुक्त सेना पर आक्रमण किया। मुडुगुन्डूरमें घमासान युद्ध हुआ, परन्तु शिवमार शत्रुकी अजेय शक्तिके सम्मुख टिक न सका। राठौरोंने एकबार फिर उसे बन्दी बना लिया। गोविंद एक वीर

१-पूर्व० पृ० ६०-६१.

योद्धा था। आखिर उसने भाईके विद्रोहको शमन किया और खम्बके पश्चाताप प्रकट करने पर उसे ही गंगवाड़ीका शासक नियत कर दिया। खम्बके उपरांत ढक्किराजने गंगवाड़ी पर कुछ समय तक शासन किया था। किंतु शिवमारके भाग्यने फिर पलटा खाया। गोविंदको पूर्वीय चालुक्योंसे मोर्चा लेना था; इसलिये उसने शिवमारको मुक्त करके उसे गंगवाड़ीका राज्याधिकार प्रदान कर दिया, इसतरह एक बार फिर गंगका राज्य जमा। गोविंदने अपना सौहार्द्र प्रकट करनेके लिये पल्लवधिराज नंदिवर्मन् द्वितीयके साथ स्वयं अपने हाथोंसे शिवमारको राजमुकुट पहनाया था। राजा होने पर शिवमार राठौर सेनाके साथ पूरे बारह वर्ष अर्थात् सन् ८०८ ई० तक पूर्वीय चालुक्य राज नरेन्द्र मंगराज विजयादित्य द्वितीयसे लड़ता रहा था। कहते हैं कि चालुक्योंसे उसने १०८ युद्ध किये थे। उपरांत दक्षिणके राजाओंमें स्वात्माभिमान जागृत हुआ और उन्होंने चालुक्यो और राठौरोंसे स्वाधीन होनेके लिये परस्पर संगठन किया। गंग, केरल, चोल, पाण्ड्य और काञ्चीके राजाओंने मिलकर गोविन्दके विरुद्ध अस्त्र ग्रहण किये। गोविंद भी सजधज कर श्रीभवन नामक स्थान पर आ डटा और दक्षिणात्योंकी संयुक्त सेनासे इस वीरतासे लड़ा कि उसके छके छुड़ा दिये, दक्षिणियोंकी बुरी हार हुई। इस महायुद्धमें गंगवंश और सेनाके अनेक पुरुष काम आगए थे। शिवमारका अंतिम समय अंधकारमय होगया था।[१]

शिवमार एक महान् योद्धा था—युद्धक्षेत्रमें वह विकराल रूप

१—गंग०, पृ० ६१-६४ व० मैकु पृ० ४१-४२।

शिवमारका गार्हस्थिक जीवन।

धारण कर लेता था, इसीलिये उसे 'भीम-कोप' कहा गया है। किंतु राज्यसंचालनमें वह एक दयालु और उदार शासक था। कुम्मडवाडु नामक स्थान पर उसने एक जैन मन्दिर बनवाया था और उसके लिए दान दिया था। श्रवणबेलगोलके छोटे पर्वत पर भी उसने एक जैन मंदिर निर्मापित कराया था। ब्राह्मणोंको भी उसने दान दिया था। जैन धर्मके लिये तो वह आधारस्तम्भ ही थे! यद्यपि सामयिक झगड़ेमें उन्होंने कई झोंके खाये थे, परन्तु फिर भी उनका व्यक्तित्व महान् था। खास बात तो यह थी कि वह एक अतीव योग्य और शिक्षित शासक थे। शरीर भी उनका सुंदर, कामदेवके समान था। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण, उनकी स्मृति सुदृढ़ और उनका ज्ञान परिष्कृत था। वह कोई भी विद्या शीघ्र ही सीख लेते थे। उनकी इस अलौकिक प्रतिभाने उनके समकालीन राजाओंको अचम्भेमें डाल दिया था। उन्हें ललितकलासे भी प्रेम था। बेरेगोडु नामक स्थानसे उत्तर दिशामें उन्होंने किरनी नदीका अतीव सुंदर और दर्शनीय पुल बनाया था। वह स्वयं एक प्रतिभाशाली कवि थे। न्याय, सिद्धांत, व्याकरण आदि विद्याओंमें भी वह निपुण थे। नाटक शास्त्र और नाट्यशालाका उन्हें पूरा परिज्ञान था। कन्नड़ भाषामें उन्होंने हाथियोंके विषयको लेकर एक अनूठा पद्यग्रन्थ 'गजशतक' नामक लिखा था। 'सेतुबन्ध' नामक एक अन्य काव्य भी उन्होंने रचा था। पातञ्जलिके योग शास्त्रका उन्होंने विशेष अध्ययन किया था।

१-गाग० पृ० ६५-६७.

युवराज मारसिंह ।

राठौर राजा गोविंदने गंगवाड़ीका राज्य शिवमारके पुत्र मारसिंह और उसके भाई विजयादित्यके मध्य आधा २ बांट दिया था। शिवमारके बन्दी होने पर मारसिंहने लोकत्रिनेत्र उपाधि धारण करके गंगवाड़ी पर शासन किया था। राठौर राजाओंके आधीन रहकर मारसिंहने युवराजके रूपमें गङ्गमण्डल पर शासन किया था। मालूम होता है कि उन्होंने गङ्गवंशकी एक स्वाधीन शाखा स्थापित की थी।[1] शिवमारका एक अन्य पुत्र पृथिवीपति नामक था। उसने अमोघवर्षके भयसे भगे हुये मनुष्योंको शरण दी थी और पांड्यराजा वरगुणको श्रीपुरम्बियम्के मैदानमें परास्त किया था। किंतु उपरांत इसके विषयमें कुछ ज्ञात नहीं होता। शायद वह और विजयादित्य दोनों ही शिवमारके जीवनमें ही स्वर्गवासी होगए थे।[2]

गङ्ग राज्यके दो भाग ।

मारसिंहके समयमें गङ्ग राज्य दो भागोंमें विभक्त होगया था। एक भागपर मारसिंह और उसके उत्तराधिकारी राज्य करते रहे थे और दूसरे पर विजयादित्यका पुत्र राजमल्ल सत्यवाक्य शासनाधिकारी हुआ था। राजमल्ल सन् ८१७ ई० को राजगद्दीपर बैठा, जब कि मारसिंह कोलर आदि उत्तर-पूर्वीय प्रांतोंपर शासन कर रहा था। मारसिंहने सन् ८५३ ई० तक राज्य किया था।[3]

१-पूर्वं० पृ० ६८. २-मैकु० पृ० ४२. ३-गङ्ग० पृ० ६९.

मारसिंहका उत्तराधिकारी उसका भाई दिन्दिग हुआ था, जिसका अपर नाम पृथिवीपति था। वह जैन धर्मका महान् संरक्षक था। उसने श्रवणबेलगोलामें कटवप्र पर्वतपर जैनाचार्य अरिष्टनेमिका निर्वाण (? समाधि) अपनी रानी कम्पिला सहित देखा था। उसकी पुत्री कुन्दव्वैका विवाह बाणवंशी राजा विद्याधर विक्रमादित्य जयमेरुके साथ हुआ था। उसने अमोघवर्ष राठौरसे त्रास पाये हुये नागदन्त और जोरिग नामक राजकुमारोंको शरण दी थी। उनकी मानरक्षाके लिये दिन्दिगने कई युद्ध राठौरोंसे लड़े थे। वैम्बलगुरिके युद्धमें वह जखमी हुये थे; किन्तु वीर दिन्दिगने अपने जखमोंसे एक हड्डीका टुकड़ा काटकर गङ्गामें प्रवाहित कराया था। उसके समकालीन अन्य मूल शाखामें गङ्ग राजा राजमल्ल सत्यवाक्य और बुटुग थे। उनके साथ वह भी पल्लव-पाण्ड्य-युद्धमें भाग देता रहा था। अपराजित पल्लवसे दिन्दिगने मित्रता कर ली थी और उनके साथ वह श्री पुरम्बियम्के महायुद्धमें वरगुण पांड्यसे सन् ८८० ई० में बहादुरीके साथ लड़ा था। उदयेन्दिरम्के लेखसे प्रगट है कि वरगुणको परास्त करके अपराजितके नामको दिन्दिग पृथिवीपतिने अमर बना दिया था और अपना जीवन उत्सर्ग करके यह वीर स्वर्गगतिको प्राप्त हुआ था।

दिन्दिग।

दिन्दिगके पश्चात् गङ्गोंकी इस शाखामें पृथिवीपति द्वितीय नामक राजाने राज्य किया था। उसने

१-गङ्ग० पृ० ७०-७१.

पृथिवीपति द्वितीय। चोल-पल्लव, युद्धमें भाग किया था। चोलराज पारान्तक प्रथम इनके मित्र थे। पारान्तकने बाण राज्यका अंत करके उनके देशका शासनाधिकार पृथिवीपतिको प्रदान किया था। साथ ही उनको 'नाणाधिराज' और 'हस्तिमल्ल' विरुदोंसे अलंकृत किया था। उपरांत पृथिवीपति राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीयका सामन्त होगया था। किंतु जब इनके समकालीन मूल गङ्गराज नीतिमार्ग द्वितीयने राष्ट्रकूटोंका अधिकार मानना अस्वीकार किया तो यह भी स्वाधीनताकी घोषणा कर बैठे। परिणमतः वनवासीके राठौर वायसरायने उन पर आक्रमण किया और उन्हें युद्धमें परास्त कर दिया। संभवतः पृथिवीपति पुनः राठौरोंके सामन्त हो गये। ननिय गङ्ग उनके बाद राजा हुये, परन्तु वह एक युद्धमें काम आये और उनके साथ गङ्गोंकी यह शाखा समाप्त होगई।

राजमल्ल। गङ्गवंशकी मूल शाखामें शिवमारके पश्चात् विजयादित्यके पुत्र राजमल्ल राज्याधिकारी हुये। उनके राज्य-सिंहासनारोहणके समय गङ्गराज्यका विस्तार पहले जितना नहीं रहा था; क्योंकि शिवमारको हरा कर राठौरोंने गङ्गवाड़ीके एक भाग पर अपना अधिकार जमा लिया था। जैसे हीरामल्ल गद्दीपर बैठे कि उनका युद्ध बाण विद्याधरसे छिड़ गया; जिसमें उन्हें गङ्गवाडी ६००० से हाथ धोने पडे। उधर राजमल्लके सामन्तगण भी उनके विरुद्ध होगये और राठौर

१-गङ्ग० पृ० ७२-७३

राजा अमोघवर्षसे भी उन्हें लड़ना पड़ा। राठौर अमोघवर्षकी यह इच्छा थी कि गङ्गवाड़ीको जीतकर वह अपने साम्राज्यमें मिला ले। गङ्गवाडीका जितना भाग राष्ट्रकूट (राठौर) साम्राज्यमें आगया था, उस पर नोलम्ब राजा सिंहपोतक पुत्र-पौत्र राज्य करते थे; जो एक समय स्वयं गङ्गोंके ही करद थे; परन्तु अब राष्ट्रकूट-सत्ताको जिन्होंने स्वीकार कर लिया था। इस परस्थितिमें राजमल्लको प्राकृत यह चिन्ता हुई कि किसतरह वह अपने खोये हुये प्रान्तोंको पुनः प्राप्त कर लें। अपने इस मनोरथको सिद्ध करनेके लिये राजमल्लके लिये यह आवश्यक था कि वह अपने पड़ोसियों और पुराने सामन्तोंसे संधि कर ले। पहले ही उन्होंने नोलम्बाधिराजसे मैत्री स्थापित की, जो उस समय राष्ट्रकूटोंकी ओरसे गङ्गवड़ी ६००० पर शासन कर रहे थे। राजमल्लने सिंहपोतकी पोती और नोलम्बाधिराजकी छोटी बहनसे विवाह कर लिया और स्वयं अपनी पुत्री जगव्वे, जो नीतिमार्गकी छोटी बहन थी, नोलम्बाधिराज पोललचोरको व्याह दी। इस विवाह सम्बन्धके उपरान्त नोलम्ब राजा एकबार फिर गङ्गराजाओंके सामन्त होगये।[1]

राजनैतिक परीस्थिति।

इधर राजमल्लने राष्ट्रकूट सामन्तोंको अपनेमें मिला लिया और उधर राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्षको स्वयं अपने घरमें ही अनेक विग्रहोंको शमन करनेके लिये मजबूर होना पड़ा सामंत ही नहीं, उनके सम्बन्धियों और मंत्रियोंने भी उन्हें

1-गङ्ग० पृष्ठ ७४-७५.

धोखा दिया। हठात् अमोघवर्षको अपनी इस भयंकर गृह–स्थितिको सुधारना आवश्यक होगया–वह राज्यविस्तारकी आकांक्षाको भूल गये। उन्होंने दक्षिणमें इस समय जो लड़ाइयां लड़ीं, वह हठात् अपनी मान रक्षाके लिये लड़ीं–गङ्गवाडी या अन्य प्रांतको हड़प जानेकी नीयतसे नहीं। फिर भी अमोघवर्ष राजमल्लके स्वाधीन होनेकी घोषणासे तिलमिला उठे। उन्होंने शीघ्र ही वनवासी १२००० आदिके प्रांतिय शासक चेल्लकेतनवंशके सामन्त बङ्केय अथवा बङ्केयरसको उनपर आक्रमण करके गङ्गवाडीको नष्ट भ्रष्ट करनेके लिये भेज दिया। बङ्केयने जाते ही गङ्गोंके बड़े भारी और खूब ही सुरक्षित दुर्ग कैदल (तुम्कुरके निकट) पर अधिकार जमा लिया। बल्कि उसने गङ्गोंको खदेडकर कावेरी तटतक पहुंचा दिया। बङ्केसके शौर्यको देखते हुये यही अनुमान होता था कि वह सारी गङ्गवाड़ीको विजय कर लेगा। किन्तु राष्ट्रकूटोंकी गृह अशांतिने इस समय ऐसा भयंकर रूप धारण किया कि हठात् अमोघवर्षको विजयी बङ्केसको वापस बुला लेना पड़ा। राजमल्लने इस अवसरसे लाभ उठाया और उन्होंने उस सारे प्रदेशपर अधिकार जमा लिया, जिसे राष्ट्रकूटों (राठौरों) ने गङ्ग राजा शिवमारसे छीन लिया था। इस घटनाका उल्लेख एक शिलालेखमें है कि 'जिस प्रकार विष्णुने वाराह अवतार धारण करके पृथ्वीका उद्धार किया था, उसी प्रकार राजमल्लने गङ्गवाडीका उद्धार राष्ट्रकूटोंसे किया!' राजमल्ल एक आदर्श शासक थे। शिलालेखोंमें उनके शौर्य, बुद्धि, दान आदि गुणोंका बखान हुआ मिलता है। उन्होंने 'सत्यवाक्य'

उपाधि धारण की थी, जिसे उपरांत गङ्ग वंशके सभी राजाओंने धारण किया था।

राजमल्लका पुत्र नीतिमार्ग उसके बाद राजसिंहासनपर बैठा। उसका नाम सम्मानसूचक होनेके कारण उसके उत्तराधिकारियोंने उसे विरुद-रूपमें धारण किया था। उसका मूल नाम एरेयगङ्ग था और किन्हीं शिलालेखोंमें उन्हें रण-विक्रमादित्य भी कहा है। वह भी सन् ८१५ और ८७८ ई० के मध्य शासन करनेवाले राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्षके समकालीन थे। अमोघवर्षने एकबार फिर गङ्गवाड़ीको विजय करनेका उद्योग किया था, परन्तु उसमें वह असफल रहे। नीतिमार्गने अपने पिताकी नीतिका अनुसरण करके गङ्ग राज्यका पूर्व गौरव अक्षुण्ण रक्खा था। राजगद्दीपर बैठते ही नीतिमार्गने बाणवंशके राजाओंसे युद्ध छेड़ा और उसमें वह सफल हुये। उपरात अमोघवर्षकी सुदृढ़ सेनाको उन्होंने सन् ८६८ ई०में राजारमाडुके मैदानमें बुरी तरहसे परास्त किया था। इस पराजयने अमोघवर्षके हृदयको ही पलट दिया-उन्होंने गङ्गोंसे विद्रोहके स्थान पर मैत्री स्थापित कर ली। अपनी सुकुमार पुत्री चन्द्रब्बलब्बेका व्याह उन्होंने गङ्ग युवराज बुटुगके साथ कर दिया। तथा दूसरी संखा नामक पुत्री उन्होंने पल्लवराजा नन्दिवर्मन् तृतीयको व्याह दी। नीतिमार्ग भी अमोघवर्षके समान जैन धर्मानुयायी थे और प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेनके समसामयिक थे। वह एक महान् शासक,

नीतिमार्ग।

१-गङ्ग० पृष्ठ ७६-७७.

राजप्रबंधक, दानशील और साहित्योद्धारक राजा थे ।[1] पल्लवराजा नोलम्बाधिराज उसके आधीन गङ्ग ६००० पर शासन करते थे और बाण-युद्धमें सहायक हुए थे । अन्ततः नीतिमार्ग सन् ८७० ई० में स्वर्गवासी हुये थे । उन्होंने सल्लेखनाव्रत धारण किया था । नीतिमार्ग प्रजाको अतीव प्यारा था-उनके एक भृत्यने स्वामीवात्सल्यसे प्रेरित हो उनके साथ ही प्राण विसर्जन किये थे ।[2]

राजमल्ल सत्यवाक्य (द्वितीय) नीतिमार्गका पुत्र था और वही उनके पश्चात् राजा हुआ । शासनसूत्र संभालते ही राजमल्लको वेङ्गिके चालुक्योंसे मोरचा लेना पड़ा । चालुक्य राष्ट्रकूटोंके भी

राजमल्ल द्वीतिय ।

शत्रु थे और गङ्गोंसे राष्ट्रकूटोंकी मैत्री हो ही गई थी । अतः गङ्गों और राष्ट्रकूटो-दोनोंने ही मिलकर चालुक्योंका मुकाबिका किया । किंतु एक ओर तो इन्हें चालुक्य सुङ्क विजयादित्य तृतीयसे लड़ना था और दूसरी ओर नोलम्बाधिराज महेन्द्रको दबाना था, जो गङ्गवाड़ी ६००० पर शासन करता था और अब स्वाधीन होना चाहता था । राजमल्ल और युवराज बुटुग इस दो रे आक्रमणसे कुछ उलझनमें फंसे जरूर परन्तु अन्तमें राठौरोंकी सहायतासे वह सफल-प्रयास हुये । उधर कोङ्गु देशपर अधिकार जमानेकी लालसा पल्लवोंकी थी, जिसके कारण उन्हें पांड्यराजसे लड़ना पड़ा । इस पल्लव-पांड्य युद्धमें भी गङ्गोंकी बन आई-कोङ्गुवासियोंको बुटुगने कई बार परास्त किया था ।

१-गङ्ग० पृ० ७८-८०. २-मैकु० पृ० ४३.

राजमल्लके गौरवशाली राज्यमें उसके भाई बुटुगका गहरा हाथ था। बुटुग युवराज था और कोङ्गल्नाडु

युवराज बुटुग।

तथा पोन्नाडु पर शासन करता था। उसने अनेक युद्धोंमें अपना शौर्य प्रदर्शित किया था। पल्लवोंको उसने परास्त किया था। चोलराज अजेय राजराजको उसने हराया था। गङ्गोंके हाथियोंको कोङ्गुदेशवासी बांधने नहीं देते थे। बुटुगने उन्हें पांचवार इस धीढताका मजा चखाया और अगणित घोड़ोंको पकड़ लिया! हिरियूर और सुरूरके युद्धोंमें उन्होंने नोलम्बराज महेन्द्रको परास्त किया। चालुक्य गुणक विजयादित्य तृतीयसे भी वह दीर्घकाल तक युद्ध करता रहा था। रेमिय और गुन्गुरके युद्धोंमें बुटुग और राजमल्लने अपने भुज-विक्रमका अपूर्व कौशल दिखाकर विजयादित्यको परास्त किया था। इस प्रकार दोनों भाइयोंके शौर्यने गङ्ग राज्यके प्रतापको सजीव बना दिया था। बुटुगका अपर नाम गुणरत्तरंग था। पाण्ड्यराज श्रीमारने उसे अवश्य परास्त किया था, परन्तु इस पराजयका बदला लेकर ही वीर बुटुगका हृदय शान्त हुआ था। बुटुगकी जीवनलीला उसके भाईके राज्यकालमें ही समाप्त होगई थी और उसका पुत्र ऐरेगंग युवराजपदपर आसीन हुआ था। उधर राजमल्लकी भी वृद्धावस्था थी-इसलिये उन्होंने अपने जीवनमें ही (सन् ८८६ ई०) एरेयप्पको राजा घोषित कर दिया था। राज्यभारको हलका और व्यवस्थित रखनेके लिए राजमल्लने कोङ्गल्नाडु ८०००, नुगुनाडु और नवले आदि प्रान्तोंका शासनाधिकार एरेयप्पके आधीन करदिया

था तथा उसकी माताको कुनगलकी शासन व्यवस्था करनेका भार सौंपा था। राजमल्लने ब्राह्मण और जैनोंको दान दिये थे। उन्होंने प्रजामें धर्म और सेवाभाव बढ़ानेकी नीयतसे राज-पुरस्कार नियत किये थे। जैसे पेरमनडी पट्ट बांधना—खेतोंका लगान हमेशाके लिये नियत कर देना इत्यादि। केरेगोड़ी रंगपुरके दानपत्रोंमें उन्हें सद्गु-णोंका भण्डार और गङ्गकुलका चंद्रमा लिखा है। कोम्बले नामक स्थानपर राजमल्लका देहांत हुआ था। कई आदमियोंने राजशोकमें अपनेको उनकी चितापर जला दिया था।

नीतिमार्ग द्वितीय। उनके पश्चात् एरेयप्प नीतिमार्ग द्वितीयके नामसे सन् ८०७ ई०के लगभग राजसिंहासन पर बैठे। उन्हें सबसे पहले कृष्ण द्वि०के सामन्त बङ्केस चल्केतन वंशके लोकदेयरससे युद्ध करना पड़ा था। गकन्जनूर नामक स्थान पर घमासान युद्ध हुआ था। शिलालेखोंसे स्पष्ट है कि कृष्णराजका अधिकार समग्र गङ्गवाड़ी पर होगया था और गङ्गोंकी पुरानी राजधानी मण्णेमें रहकर प्रचंड दंड-नायक सप्पैय समूचे दक्षिण पर शासन करता था। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि नीतिमार्ग और राजमल्लने स्वाधीन होनेके भरसक प्रयत्न किये थे, परन्तु अमोघवर्षके मैत्रीपूर्ण व्यवहारमें फंस कर गंगराज पुनः राष्ट्रकूटोंके करद होगये थे। एरेयप्पको दूसरा मोरचा नोलम्बाधिराज पोललचोर और उनकी रानी गङ्गराजकुमारी जयब्बेके पुत्र महेन्द्रसे लेना पड़ा था। सन् ८७८ ई० में वह स्वाधीन होगया

१-गङ्ग० पृष्ठ ८१-८७.

था और गङ्गोंका शासन माननेके लिये तैयार न था। महेन्द्रने बाणराज्यको नष्ट करके 'त्रिभुवनवीर' और 'महाबलिकुल-विध्वंशनं' विरूद धारण किये थे। हठात् गङ्गोंके लिये महेन्द्रको समराङ्गणमें ललकारना अनिवार्य होगया था। तुम्बेरदि और बेङ्गलुरू नामक स्थानों पर भयानक युद्ध हुये थे, जिनमें एरेयप्पके वीर योद्धा नगत्तर और धरसेन अपूर्व कौशलसे लड़ते हुये वीरगतिको प्राप्त हुये थे।

इस घटनासे कुपित होकर पेन्जेरुके भीषण युद्धमें नीतिमार्गने महेन्द्रको तलवारके घाट उतार कर 'महेन्द्रान्तक' विरुद धारण किया था। इस युद्धके बाद ही नीतिमार्गने सुरूर, नदुगनि, मिदिगे, सुलिसैलेन्द्र, तिप्पेरु, पेन्डोरु इत्यादि दुर्गोंको अपने आधीन कर लिया था। इसीसमय चोल परान्तकने पल्लवराज्य पर अपना अधिकार जमा लिया था और बाणोंके देशको जीत कर उसे गङ्गराज पृथिवीपति द्वितीयको भेंट कर दिया था, जैसे कि पहले लिखा जा चुका है। एरेयप्प नीतिमार्ग अपने पिताके समान ही एक महान् योद्धा थे। कुडलूरके दानपत्रमें उन्हें एक महान् योद्धा, युद्धक्षेत्रमें निर्भय विचरण करनेवाला, संगीत वाद्य और नाट्यकलाओंमें द्वितीय भरत, व्याकरण और राजनीतिमें विशारद, और अपनी प्रजा तथा नोलम्ब, बाण, सगर आदि अपने सामन्तोंके परम हितैषी लिखा है। उनकी 'कोमरवेदाङ्ग' और 'कामद' उपाधियां थीं। चालुक्य राजकुमार निजगलिकी पुत्री जकव्वेसे उनका विवाह हुआ था। उन्होंने ब्राह्मणों तथा मुडहल्ली और तोरेमवुके जैन मंदिरोंको दान दिया था। उनको राज्य संरक्षण और शासन व्यवस्थाके कार्यमें

उनके उल्लेखनीय मंत्रियोंने विशेष सहायता दी थी। नागवर्म, नरसिंह, गोविन्दर, धरसेन और एचय्य उनके मंत्रियोंके नाम थे, जो राजनीतिमें बृहस्पति और मान्धाताके तुल्य कहे गये हैं। नीतिमार्गके तीन पुत्र थे, अर्थात् (१) नरसिंहदेव, (२) राजमल्ल, (३) और बुटुग। नरसिंहदेव राजनीति, हस्तिविद्या, और धनुर्विद्यामें निपुण थे। उनका ज्ञान नाट्यशास्त्र, व्याकरण, आयुर्वेद, अलङ्कार और संगीतशास्त्रमें भी अद्वितीय था। वह अपने शौर्यके लिये प्रसिद्ध थे और 'सत्यवाक्य' एवं 'वीरवेदेङ्ग' उपाधियोंसे अलंकृत थे। किन्तु उन्होंने अल्पकाल ही राज्य किया।[1]

राजमल्ल तृतीय। नरसिंहके उपरांत उनका छोटा भाई राजमल्ल तृतीय गङ्ग राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, जिसने 'सत्यवाक्य', 'नचेयगङ्ग' और 'नीतिमार्ग' उपाधियां धारण की थीं। राजमल्लको राष्ट्रकूटोंके साथ नोलम्ब राजकुमार अयप्प और उन्नेयसे लड़ना पड़ा। दूसरी ओर चालुक्यराज भीम द्वितीयसे लोहा ले रहे थे। इन लड़ाइयोंका मूल कारण इन राजाओंकी राज्यलिप्सा और महत्वाकांक्षा ही था। सन् ९३४ ई० में भीमसे लड़ते हुये अयप्प तो वीर गतिको प्राप्त हुये थे; परन्तु उनके पुत्र अन्नेय, जो गङ्ग राजकुमारी पोल्लब्बेकी कोखसे जन्मे थे, वह स्वाधीन रूपमें राज्य-शासन करनेमें सफल हुए थे। अन्नेयने वीरतापूर्वक चालुक्यों, राष्ट्रकूटों और गङ्गोंका मुकाबिला किया था; बल्कि उन्होंने गङ्गवाड़ी

१–गङ्ग०, पृष्ठ ८८–९०.

पर आक्रमण किया था। कोट्टमंगल नामक स्थानपर भयंकर युद्ध हुआ था, जिसमें गङ्ग सेनाके अनियगौंड आदि वीर योद्धा काम आये थे। अन्तमें अजेयने इस शर्तपर आत्मसमर्पण किया था कि उसे और उसकी सेनाको अभय कर दिया जाय। राजमल्ल जब नोलम्बोंसे उलझ रहा था तब उसका छोटा भाई बुटुग, राष्ट्रकूट राजा कृष्णकी सहायतासे समग्र गङ्गवाडीपर अधिकार जमा रहा था। इस मुडुवाले लेखसे स्पष्ट है कि कृष्णने राजमल्लकी जीवन लीला समाप्त करके बुटुगको राजा बनाया था[1]। राजमल्लका व्याह राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष द्वि० की कन्या रेवकसे हुआ था।[2]

बुटुग।

इतिहासमें बुटुग 'गङ्गनारायण'-'गङ्ग गाङ्गेय' और 'नन्निय गङ्ग' के नामोंसे प्रसिद्ध था। बुटुगके राज्य कालमें गङ्ग राज्यमें काफी उलटफेर हुआ था। युवराज अवस्थामें बुटुगने अपने भाई राजमल्लसे गङ्गराजाका अधिकार छीन लिया था, यह पहले लिखा जाचुका है। उसे राजा बनानेमें राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष तृतीयने पूरा भाग लिया था। इस समय राष्ट्रकूट और गङ्ग राजाओंका पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण था। बुटुग और अमोघवर्षमें परस्पर सन्धि होगई थी, जिससे वे एक दूसरेके सहायक हुए थे। बल्कि अमोघवर्षने अपनी कन्या रेवक बुटुगको व्याह कर इस संधिको और भी दृढ़ बना दिया था। दहेजमें बुटुगको गङ्गराज्यके अतिरिक्त बिलिगेरे ३००, बेल्वोल ३००, किसुवड ७० और बगेनडु ७०४

१-गङ्ग०, पृष्ठ ९१-९२. २-मैकु०, पृ० ४५.

नामक प्रान्त भी प्राप्त हुए थे। अमोघवर्षके जीवनकालमें ही इस दम्पतिके मरुळदेव नामक पुत्रका जन्म हुआ था। बुटुगने बीस वर्षके दीर्घकालमें राज्यशासनका अनुभव प्राप्त किया था। दशवीं शताब्दिके प्रारम्भिक कालमें उसे अपनी पूरी शक्ति राज्यमें शान्ति और व्यवस्था स्थापित करनेमें लगा देनी पड़ी थी। उपरांत उसने नीतिपूर्वक राज्य किया था। अमोघवर्षकी मृत्यु होनेपर बुटुगने उसके पुत्र कृष्ण तृतीयको राज्याधिकार प्राप्त करानेमें सहायता प्रदान की थी।

कृष्णने जब चोलराजा राजादित्य मुवड़ीचोल पर आक्रमण किया तो बुटुगने बराबर उसका साथ दिया। और वे उसमें विजयी हुए। सन् ९४९ ई० में चोल युवराज राजादित्यने एकबार फिर अपना अधिकार जमानेका उद्योग किया था।

टक्कोलम नामक स्थानपर दोनों सेनाओंमें भीषण युद्ध हुआ था, जिसमें राजादित्य वीरगतिको प्राप्त हुआ था। इस युद्धमें बुटुग और उसकी सेनाके धनुर्धरोंने धनुर्विद्याका अपूर्व परिचय दिया था। इस युद्धके परिणामस्वरूप बुटुग और कृष्णने टोंडैमंडलम् पर अधिकार जमा लिया था और चोल देशमें आगे बढ़कर काञ्ची, तंजोर और नलकोटेके किलोंका घेरा डाला था। इस आक्रमणमें बुटुगकी सहायता वलभीके राजा मनकारने की थी। मनकारकी उपाधि 'विशाल श्वेतध्वजके अधिराज' थी, जिन्होंने चोल संग्राममें अगणित मनुष्योंको तलवारके घाट उतार कर 'शूद्रक' और 'सगर त्रिनेत्र' विरुद धारण किये थे। इस संग्राममें यही दो वीर थे और उन्होंने ही मिलकर

राजादित्यकी जीवनलीला समाप्त की थी। कृष्णराज उनके शौर्यको देखकर अति प्रसन्न हुए और उन्होंने मनलारसे कोई वर मांगनेके लिये कहा। वीर मनलारने एक सच्चे वीरकी भांति अपने स्वामीसे थोड़ीसी भूमि इसलिये ली कि उसपर वह अपने बहादुर कुत्तेका स्मारक बना दें जो एक जंगली सूअरसे लड़ता हुआ मरा था।

इस संग्रामसे लौट कर कृष्णराजकी छावनी मेपति (उत्तर अर्काट) नामक स्थान पर डाली गई थी।

वैयक्तिक चरित्र। कृष्णराजने इस छावनीमें ही अपने सामंतोंकी भेंटें स्वीकार की थीं तथा अपने सरदारोंमें प्रांतोंका बंटवारा किया था। कृष्णराज जब इस कार्यमें व्यस्त थे तब बुटुक चित्रकूट गढ़को जीतकर उसपर अपना झण्डा फहरा रहे थे। आगे बढ़कर बुटुगने सप्त—मालव देशको भी विजय किया और उसका नाम 'मालव—गङ्ग' रक्खा था। दिलीप नोलम्बको भी उन्होंने परास्त किया था। सारांशतः इस प्रकार अपनी दिग्विजय द्वारा बुटुगने गङ्ग—राज्यका विस्तार और गौरव बढ़ाया था। यद्यपि उन्होंने राष्ट्रकूटोंकी सत्ता स्वीकार की थी, परन्तु फिर भी बुटुग अपनेको महाराजाधिराज लिखते थे। अपने पूर्वजोंके पगचिह्नोंपर चलकर बुटुगने बड़ी उदारतापूर्वक शासन किया था। यद्यपि वह जैन धर्मके परम भक्त थे और जैन मंदिरोंके लिये उन्होंने दान दिये थे, फिर भी ब्राह्मणोंका उन्होंने आदर किया और उन्हें दान भी दिया था। बुटुग राजधर्म और आत्मधर्मके भेदको जानते थे। वह जैनसिद्धांतके प्रकाण्ड पण्डित थे और परवादियोंसे शास्त्रार्थ भी किया

करते थे। परवादी-हाथियोंका खंडन करनेमें उन्हें मजा आता था।

कुडलूरके दानपत्रसे प्रकट है कि एक बौद्धवादीसे वाद करके उन्होंने उसके एकांत मतकी धज्जियां उड़ा दी थीं। वह बड़े ही धर्मात्मा थे और जब उनकी विदुषी बहन पम्बब्बेका समाधिमरण सन् ९७१ ई० में तीस वर्षकी दीर्घ तपस्या करनेके बाद हुआ, तो उनके दिलको इस वियोगसे गहरी ठेस पहुंची; परन्तु वह विचक्षण नेत्र थे-वस्तुस्थितिको जानकर अपने कर्तव्यका पालन करने लगे। राष्ट्रकूट रानी रेवकसे बुटुगके एक पुत्री भी हुई थी; जिसका नाम संभवतः कुन्दन सोमिदेवी था। बुटुगने उसका विवाह कृष्णराजके पुत्र अमोघवर्ष चतुर्थके साथ कर दिया था। इस राजकुमारीसे ही राष्ट्रकूट वंशके अन्तिम राजा इन्द्रराजका जन्म हुआ था। बुटुगके पुत्र मरुलदेव पनुमेय गङ्गको कृष्णराज तृतीयकी पुत्री ब्याही थीं। मरुलको 'मदनावतार' नामक छत्र भी कृष्ण-राजसे प्राप्त हुआ था। मरुल अपने पिताकी भांति ही जिनेन्द्रभक्त था। लेखोंमें उन्हें 'जिनपद-भ्रमर' लिखा है। मरुलके विरुद 'गङ्ग मार्तण्ड'-'गङ्ग चक्रायुध'-'कमद' 'कलियुग भीम' और 'कीर्तिमनोभव' थे, जिनसे उनके शौर्य और विक्रमका बखान स्वयं होता है। उनकी माता रानी रेवकनिम्मडिकी उपाधि 'चाग-वेदाङ्गी' थी। मालूम होता है कि मरुलने अधिक समयतक राज्य नहीं किया था। उनके पश्चात् उनके सौतेले भाई मारसिंह राज्याधिकारी हुए थे।[१]

१-गङ्ग०, पृ० ९३-९९; मैकु०, पृ० ४५-४६; व जैसाइं०, पृष्ठ ५५.

हेव्वल शिलालेखसे स्पष्ट है कि बुटुगकी दूसरी रानीका नाम कल्लभर अथवा कल्लबरीस था। मारसिंहका

मारसिंह द्वितीय। जन्म इन्हींकी कोखसे हुआ था। उनका पूरा नाम सत्यवाक्य कोङ्गुणिवर्मा पेरमानडी मारसिंह था। उक्त लेखमें मारसिंहके अनेक विरुदोंका उल्लेख है, जिनमेंसे कुछ इस प्रकार थे: "चलद्-उत्तरङ्ग"-"धर्मावतार"-"जगदेकवीर"-"गङ्गर सिंह"-"गङ्गवज्र"-"गङ्ग कंदर्प"-"नोलंब-कुलान्तक"-"गङ्गचूड़ामणि"-"विद्याधर" और "मुत्तियगङ्ग"। मारसिंहके इन विरुदोंसे उनका महान् व्यक्तित्व स्वयमेव झलकता है। गङ्गवाड़ीमें उस समय उन जैसा महान् पुरुष शायद ही जन्मा था। कूडलूरके दानपत्रोंमें मारसिंहका विशद चरित्र वर्णित है। उससे प्रकट है कि बाल्यावस्थासे ही मारसिंह अपने शारीरिक बल और सैनिक शौर्यके लिये प्रसिद्ध थे। बचपनसे ही वह गुरुओंकी विनय और शिक्षकोंका आदर करना जानते थे। अपनी नम्रता, अपने समुदार चरित्र और अपनी विद्याके लिये वह प्रख्यात थे। यद्यपि उनका समूचा शासन काल संग्रामों और आक्रमणोंसे भरपूर रहा था; परन्तु फिर भी वह जनताका हित और आत्मकल्याण करना नहीं भूले थे। मारसिंहने भी अपनी सैनिक नीति वही रक्खी थी, जो उनके पिताकी थी। राष्ट्रकूट राजाओंसे उन्होंने पूर्ववत् मैत्रीपूर्ण व्यवहार रक्खा था। वह कृष्णतृतीयके सामन्तरूपमें रहे थे। कृष्णराज जब अश्वपतिको जीतनेके लिये जारहे थे तब उन्होंने मारसिंहका राज्याभिषेक करके उन्हें गङ्गवाडीका शासक घोषित

किया था। जिस समय गुजरातके गुर्जर राजाओंने कलचूरियों पर आक्रमण किया था, तो उस समय उनकी रक्षा करनेके लिये कृष्ण-राजने मारसिंहको भेजा था। मारसिंहने गुजरात पर आक्रमण किया और अन्हिलवाडके राजा मूलराज तथा राष्ट्रकूटोंके बागी हुये करद सियक परमारको परास्त किया था। इस विजयोपलक्षमें मारसिंह 'गुर्जराधिराज' नामसे विख्यात हुये थे। इस युद्धमें उनके सहायक सूद्रकय्य और गोग्गियम्म नामक योद्धा थे, जिन्होंने वीरतापूर्वक कालंजर और चित्रकूटके किलोंकी रक्षा करके "उज्जैनी भुजङ्ग" उपाधि प्राप्त की थी। मारसिंहने अपने इन सरदारोंको कदम्बलिगे १००० प्रान्त पर शासन करनेके लिये नियुक्त किया था। श्रवणबेलगोलके कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ (शक सं० ८९६) लेखसे भी मारसिंहके प्रतापका दिग्दर्शन होता है।

इस लेखमें कथन है कि 'मारसिंहने राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज तृतीयके लिये गुर्जर देशको विजय किया, कृष्णराजके विपक्षी अल्लाका मद चूर किया; विन्ध्य पर्वतकी तलीमें रहनेवाले किरातोंके समूहोंको जीता; मान्यखेटमें नृप कृष्णराजकी सेनाकी रक्षा की; इन्द्रराज चतुर्थका अभिषेक कराया; पातालमल्लके कनिष्ठ भ्राता बज्जलको पराजित किया; बनवासी नरेशकी धन सम्पत्तिका अपहरण किया; माट्टर वंशका मस्तक झुकाया; नोलम्ब कुलके नरेशोंका सर्व-नाश किया; काडुवट्ट जिस दुर्गको नहीं जीत सका था उस उच्चङ्गि दुर्गको स्वाधीन किया; शबराधिपति नरगका संहार किया;

१–गङ्ग० पृष्ठ ९९–१०१.

चौड़ नरेश राजादित्यको जीता; तापी-तट, मान्यखेट, गोनुर, उच्चङ्गि, बनवासि व पाभसेके युद्ध जीते; चेर, चोड़, पाण्ड्य और पल्लव नरेशोंको परास्त किया व जैन धर्मका प्रतिपालन किया और अनेक जिन मंदिर बनवाये। अन्तमें उन्होंने राज्यका परित्याग कर अजितसेन भट्टारकके समीप तीन दिवसतक सल्लेखना व्रतका पालन कर बङ्कापुरमें देहोत्सर्ग किया। इस लेखमें वे गङ्ग-चूड़ामणि, नोलम्बान्तक, गुत्तिय-गङ्ग, मण्डलिक त्रिनेत्र, गङ्ग विद्याधर, गङ्ग कंदर्प, गङ्ग वज्र, गङ्ग सिंह, सत्यवाक्य कोङ्गणिवर्म-धर्म महाराजाधिराज आदि अनेक पदवियोंसे विभूषित किये गये हैं।[1] इन उल्लेखोंसे मारसिंहका अद्भुत शौर्य और राष्ट्रकूट राजाओंके प्रति उनके अगाध प्रेम और श्रद्धाका पता चलता है।

दक्षिणमें राष्ट्रकूटोंका प्रताप मारसिंहका ही ऋणी था। अभाग्यवश सन् ९६६ ई० में कृष्ण तृतीयका स्वर्गवास होगया, जिसके कारण राष्ट्रकूट साम्राज्यपर अधिकार प्राप्त करनेके लिये घरेलू युद्ध छिड़ गया। छोटे-छोटे सामन्त स्वाधीन होनेके लिये आपसमें लड़ने लगे। मारसिंहकी सहायतासे राष्ट्रकूट राजा कक्क द्वितीयने ज्यों-त्यों करके आठ वर्षतक राज्य किया। उनके स्थानपर मारसिंहने अपने दामाद इन्द्रको राष्ट्रकूट सिंहासनपर प्रबल विरोधमें बैठाया; परन्तु वह राष्ट्रकूटोंके ढलते हुये प्रताप-सूर्यको अस्त होनेसे रोक न सके। चालुक्योंने राष्ट्रकूट साम्राज्यको छिन्नभिन्न कर दिया। राष्ट्रकूट साम्राज्यके पतनका असर मारसिंहपर भी पड़ा; परन्तु वह

१-जैशिसं०, पृष्ठ २९.

अपना राज्य सुदृढ़ बनाये रखनेमें सफल हुये। इस समय गङ्गोंके करद नोलम्ब राजाओंने स्वाधीन होनेके लिये प्रयत्न किया था; मारसिंहने एक बड़ी सेना उनके विरुद्ध भेजी और नोलम्ब कुलका ही अन्त कर डाला। नोलम्बवाडीकी प्रजाको मारसिंहने अपनी आज्ञाकारिणी बनाकर उसे सुख शांतिपूर्ण राज्यका अनुभव कराया।[1]

नोलम्बोंको परास्त करके मारसिंह सन् ९७२ ई०में लौटकर बंकापुर आये। इस समय उनके राज्यका विस्तार महानदी कृष्णा तक फैला हुआ था। जिसके अंतर्गत नौलम्बवाडी ३२०००, गङ्गवाडी ९६०००, बनवासी १२०००, शान्तलिगे १००० आदि प्रांत गर्भित थे। आखिर सन् ९७४ में अपना अंत समय निकट जानकर मारसिंहने श्री अजितसेनाचार्यके निकट सल्लेखना व्रत ग्रहण करके अपनी गौरवशालिनी ऐहिक लीला समाप्त की।[2]

महान् व्यक्तित्व। कुडलूरके दानपत्रोंमें लिखा है कि 'मारसिंहको पराया भला करनेमें आनंद आता था, वह परधन और परस्त्रीके त्यागी थे; सज्जनोंकी अपकीर्ति सुननेके लिये वह बहरे थे; साधुओं और ब्राह्मणोंको दान देनेके लिये वह सदा तत्पर रहते थे; एवं शरणागतोंको वह अभय बनाते थे।' दया-धर्म और साहित्यसे उन्हें गहरा अनुराग था। पशुओंकी रक्षा करनेका भी उन्हें ध्यान था। वैयाकरण यदि गंगल भट्ट एवं अन्य विद्वानोंको दान देकर उन्होंने

१-गङ्ग०, पृ० १०१-१०७. २-मैकु० पृ० ४७.

अपने विद्या प्रेमका परिचय दिया था। वह स्वभावतः विनम्र, दयालु, सत्यप्रेमी, श्रद्धालु और धर्मात्मा थे। साधुओं और कवियोंके संसर्गमें रहना उन्हें प्रिय था। वह स्वयं व्याकरण, न्याय, सिद्धांत, साहित्य, राजनीति और हाथियोंकी रणविद्याके पारगामी विद्वान् थे। सुप्रख्यात् विद्वानों और कवियोंका आदर-सत्कार करना उनका साधारण कार्य था। दूर-दूर देशोंसे आकर कविगण उनके दरबारमें उनका यशगान करते थे। मारसिंह अहर्निश रणाङ्गणमें व्यस्त रहने पर भी उन कवियोंकी मधुर और ललित काव्य-वाणीको सुननेके लिये समय निकाल लेते थे। वह सचमुच 'दानचूड़ामणि' थे।

नागवर्म और केशिराज सदृश कवियोंने उनकी प्रतिभाको स्वीकार किया है। कुडलूर दानपत्रके लेखककी दृष्टिमें मारसिंह मानवजातिके एक महान् नेता, एक न्यायवान् और निष्पक्ष शासक, एक वीर और जन्मजात योद्धा, एक न्याय विस्तारक, और साहित्य संरक्षक महापुरुष थे; जिसके कारण उनकी गणना गङ्गवाडीके महान् शासकोंमें की जानी चाहिये। इस दानपत्रसे यह भी प्रगट है कि मारसिंह जिनेन्द्र भगवानके चरणकमलोंमें एक भौंरेके समान लीन थे, जिनेन्द्र भगवानके नित्य होने हुये अभिषेक जलसे उन्होंने अपने पाप-मलको धो डाला था और गुरुओंकी वह निरंतर विनय किया करते थे। संखवस्ती लक्ष्मेश्वर (धारवाड़) के लेखमें मारसिंहकी उपमा एक रत्न-कलशसे दी है, जिससे निरन्तर जिनेन्द्र भगवानका अभिषेक किया जाता हो। इन उल्लेखोंसे मारसिंहकी जैन धर्ममें गाढ़ श्रद्धा प्रतीत होती है। उन्होंने अपने ऐहिक कार्यों एवं धार्मिक कृत्योंसे जैन

धर्मकी इस उक्तिको चरितार्थ कर दिखाया था कि 'जे कम्मे सूरा-ते धम्मे सूरा' अर्थात् जो कर्मवीर हैं वही धर्मवीर होते हैं।[1]

राजमल्ल (राजविद्रोहीका शमन।) राष्ट्रकूट साम्राज्यके पतन एवं मारसिंहकी मृत्युको देखकर उससे लाभ उठानेके लिये वे सब ही राजा चौकन्ने होगये जिनको मारसिंहने अपने आधीन किया था और जो अपनी स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिये छटपटा रहे थे। उनमेंसे कई एक प्रगट रूपमें गङ्गराजाओंके विरोधी बन गये। मारसिंहके दोनों पुत्रो-राजमल्ल और रक्कसगङ्गके जीवन भी संकटमें आफँसे। किन्तु गङ्ग राजकुमारोंके इस संकटापन्न समय पर उनकी प्रजा और उनके सरदारोंने उनकी सहायता जी जानसे की। दोनों भाई एक सुरक्षित स्थान पर भेज दिये गये। स्वामि वात्सल्यका भाव उस समय गङ्गवाड़ीमें सर्वोपरि था। रक्कसगङ्गके संरक्षक बोयिगकी कन्या सायिब्बे उसी भावसे प्रेरी हुई अपने पतिके साथ रणाङ्गणमें पहुँची और वीरगतिको प्राप्त हुई। ऐसे और भी उदाहरण है और इन्हींके कारण गङ्गराज्यका प्रताप अक्षुण्ण रहा। इस समय गङ्गराजाओंके विरुद्ध हुये शासकोंमें दो विशेष उल्लेखनीय है (१) पञ्चलदेव और (२) मुडु राचय्य। महासामन्त पञ्चलदेव पुलिगेरे-बेल्वोल आदि तीस ग्रामोंका शासक था। उसने मारसिंहके मरते ही अपनेको स्वाधीन घोषित कर दिया। और वह सन् ९७४ से ९७५ तक स्वाधीनरूपसे राज्य करनेमें सफल हुआ। किन्तु चालुक्य तैल और

1-मैकु०, पृष्ठ ४७: गङ्ग० पृष्ठ १०७-१०८ व जैसा, इं०, पृ० ५६.

गङ्ग सेनापति चामुंडरायने शीघ्र ही पञ्चलको समराङ्गणमें ललकारा और उसे अपनी करनीका फल चखाया। सन् ९७५ में वह लड़ाईमें काम आया। गङ्गोंका दूसरा शत्रु मुडुराचय्य था। चामुंडरायका भाई नागवर्मा उसको अक्ल ठिकाने लानेके लिये उसके मुक़ाबिलेमें गया, परन्तु दुर्भाग्यवश वह राचय्यके हाथसे अपने अमूल्य प्राण खो बैठा। चामुंडरायके लिये यह घटना असह्य थी। वह झटसे राचय्यके सम्मुख आये और बगेयुरके युद्धमें उसकी जीवनलीलाका अन्त किया।

चामुंडरायके शौर्यका आतङ्क चहुंओर छागया, जिससे विरोधियोंकी हिम्मत पस्त होगई। गङ्गराज्यके ऊपरसे आफतके बादल साफ होगये। चामुंडरायकी इस अपूर्व सेवाके उपलक्षमें वह 'परशुराम' की उपाधिसे अलंकृत किये गये। निस्सन्देह चामुंडराय एक महान् वीर थे और यदि वह चाहते तो स्वयं गङ्गवाड़ीके राजा बन बैठते; परन्तु उनका नैतिक चरित्र आदर्श और अनुपम था। उनके रोमरोममें त्याग और सेवाभाव भरा हुआ था, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने गङ्गराज्यकी नींव दृढ़ कर दी और उसके गौरवको पूर्ववत् स्थायी रक्खा। इन अपूर्व सेवाओंके कारण ही उन्हें गङ्गराजाओंका सेनापति और मंत्रीपद प्राप्त हुआ था। उन्होंने वह शांतिमय वातावरण उपस्थित किया था कि जिसमें राजमल्लका राजतिलक किया जा सके।

१-गङ्ग०, पृ० १०९-१११.

इस प्रकार चामुंडरायकी साहाय्यसे मारसिंहके पश्चात् उनके पुत्र राजमल्ल चतुर्थ राज्याधिकारी हुये।

चामुंडराय। उनके सेनापति और महामंत्री श्री चावुंडरायजी रहे। गङ्गकुलके हितके लिये, गङ्ग राज्य विस्तारके वास्ते और राज्यव्यवस्थाको समुन्नत बनानेके हेतु चामुंडराय निरंतर उद्योगशील रहते थे। यद्यपि उनके अतुल अधिकार थे, पर तो भी उन्होंने कभी उग्रव्यवहार नहीं किया—बल्कि हरसमय संयमसे ही काम लिया। उनका एक मात्र ध्येय राजत्वकी सेवा करना था और उसे उन्होंने खूब ही निभाया[1]। वह ब्रह्मक्षत्रकुलके रत्न थे। उनके पिता महाबलय्य और पितामह गोविंदमय्य थे; जिन्होंने मारसिंहकी उल्लेखनीय सेवा की थी। अपने पिताके समान ही चामुंडरायने भी मारसिंहके साथ युद्धोंमें निजशौर्यका परिचय दिया था। नोलम्बपल्लवोंसे जो युद्ध हुआ था, उसमें चामुंडरायने विशेष रूपसे भुजविक्रमका कौशल दर्शाया था[2]। चामुंडरायके पिता गङ्ग राजधानी तलकाडमें बहुधा रहते थे—इसलिये यह अनुमान किया जासक्ता है कि उनका जन्म और बाल्यजीवन

१-"Chamundaraya who stamped out sedition and established Order became the minister and general of Rajamalla IV. Though he was armed with unlimited powers, he behaved with great moderation; and with a singleness of aim which has no parallel in the history of Ganga dynasty, he devoted himself to the service of the State. His whole career might be summed up in the word "Devotion."—M. V. Krishna Rao. गंग० पृष्ठ १११.

२-गङ्ग०, पृष्ठ १११.

वहां ही बीता होगा। चामुंडरायके जीवन कार्यका समय मारसिंह, राजमल्ल और रक्कसगङ्ग - इन तीन गंग राजाओंके राज्यकालके सम-तुल्य रहा है, इसलिये यह भी कहा जासक्ता है कि मारसिंहके राज्यारोहणके पहले ही चामुंडरायका जन्म हुआ था। मारसिंहके साथ तो वह युद्धोंमें जाकर भाग लेते थे। अतः इस समय उनका युवा होना निश्चित है। चामुंडरायकी माता कालकदेवी जैनधर्मकी दृढ श्रद्धालु थीं। उनकी अटूट जिनभक्तिका प्रतिबिम्ब उनके सुपुत्र चामुण्डरायके दिव्य चरित्रमें देखनेको मिलता है।[1] 'गोमट्टसार' से प्रगट है कि अजितसेनस्वामी चामुंडरायजीके दीक्षागुरु थे।[2] आचार्य आर्यसेनसे उन्होंने सिद्धान्त, विद्या और कलाकी शिक्षा प्राप्त की थी। आचार्य महाराजके अनेक गुण गण उन्होंने धारण कर लिये थे।[3] उपरान्त श्री नेमिचन्द्राचार्यके निकट रहकर उन्होंने अपना आध्यात्मिक ज्ञान उन्नत बनाया था।

श्री नेमिचन्द्राचार्यजी स्वयं कहते है कि उनकी वचनरूपी किरणोंसे गुणरूपी रत्नों कर शोभित चामुंडरायका यश जगतमें विस्तरित हो।[4] महाज्ञानी तपोरत्न ऋषियोंकी संगतिमें जन्मसे रहकर चामुंडराय एक आदर्श श्रावक और अनुपम नागरिक प्रमाणित हुये थे। युवावस्थामें जिस रमणी-रत्नसे उनका विवाह हुआ था, उसका नाम अजितादेवी था; परन्तु उन्होंने किस कुलको अपने जन्मसे

१–वीर, वर्ष ७ चामुंडराय अंक पृष्ठ २. २–'सो अजिय सेणणाहो जस्स गुरू जयउ सो राओ।' ३–'अज्जजसेण गुणगणा समूह संधारि।' ४–गोम्मट्टसार गाथा ९६७.

सौभाग्यशाली बनाया था, यह ज्ञात नहीं। शायद कन्नड़ साहित्यमें उनका गार्हस्थिक जीवन विशेष रीतिसे लिखा गया हो। कुछ भी हो, इसमें संशय नहीं कि उस समय गङ्गवाड़ी देशमें चामुंडरायके सम-तुल्य कोई दूसरा महापुरुष नहीं था। वह महीशूर (Mysore) देशके भाग्यविधाता थे। उनकी इन विशेषताओंको लक्ष्य करके ही विद्वानोंने उन्हें 'ब्रह्मक्षत्र कुल भानु'—'ब्रह्मक्षत्र-कुल-मणि' आदि विशेषणोंसे स्मरण किया है। शासनाधिकारके महत्तर पदपर पहुंचकर भी उन्होंने नैतिक-नीतिका कभी उलंघन नहीं किया। उनके निकट सदा ही "परदारेषु मातृवत्" और 'परद्रव्येषु लोष्ठवत्" की उक्ति महत्वशाली रही थी। ऐसे गुणोंके कारण वह "शौचाभरण" कहे गये हैं। अपनी सत्यनिष्ठाके लिये वह इस कलिकालमें 'सत्य—युधिष्ठिर' कहलाते थे। वैसे उनके वैयक्तिक नाम चावुंडराय, राय और गोम्मट्टदेव थे। चावुंडराय नाम उनके माता—पिताने रक्खा था। श्रवणबेलगोलमें विंध्यगिरि पर्वतपर श्री बाहुबली स्वामीकी विशाल मूर्ति निर्माण करानेके कारण वह 'राय' नामसे प्रसिद्ध हुये थे। कन्नड भाषामें 'गोमट्ट' शब्दका भावार्थ 'कामदेव' सूचक है। चावुंडरायने कामदेव बाहुबलिकी मूर्ति स्थापना करके यह नाम उपार्जन किया प्रतीत होता है। संस्कृत भाषाके जैन ग्रन्थोंमें उनका उल्लेख चामुंडराय नामसे हुआ है। उनके पूर्वभव—सम्बन्धमें कहा गया है कि 'कृतयुग'में वह संमुखके समान थे, त्रेतायुगमें रामके सदृश हुये और कलियुगमें वीर—मार्तण्ड हैं। इन उल्लेखोंसे उनका महान् व्यक्तित्व सहज अनुभवगम्य है।

१—'ब्रह्मक्षत्रकुलोदयाचलशिरोभूषामणिर्मानुमान्।'

किंतु खास बात उनके चारित्रमें राजतंत्र और राष्ट्रके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करना है। वह अपने

सेनापति। राजा और देशकी मानरक्षा, समृद्धि और कीर्तिके लिये अपनेको उत्सर्ग किये हुये थे। अहिंसा—तत्वके निष्कर्षको चीन कर उन्होंने अलौकिक वीरवृत्ति धारण की थी। वह राजमंत्री ही नहीं गङ्ग राजाओंके सेनापति भी थे। अनेकवार उन्होंने गङ्ग—सैन्यको रणाङ्गणमें वीरोचित मार्ग सुझाया था। उन्हींके रण—विक्रम और बाहुबलसे गङ्ग राष्ट्र फला फूला था। कहा गया है कि खेड़गकी लड़ाईमें वज्रदेवको हराकर चामुंडरायने 'समरधुरन्धर'की उपाधि धारण की थी। नोलम्बाणमें गोनूरके मैदानमें उन्होंने जो रण—शौर्य प्रगट किया, उसके कारण वह 'वीर—मार्तण्ड' कहलाये। उच्छङ्गिके किलेको जीत कर वह 'रण रङ्ग—सिंह' होगये और बागेल्लूरके किलेमें त्रिभुवनवीर आदिको कालके गालेमें पहुंचा कर उन्होंने गोविंदराजको उसका अधिकारी बनाया। इस वीरताके उपलक्षमें वह 'वैरीकुल—कालदण्ड' नामसे प्रसिद्ध हुये। नृपकामके दुर्गको जीतकर वह 'भुजविक्रम' कहलाये। नागवर्मके द्वेषको दण्डित करके वह 'छलदङ्ग—गङ्ग' पदवीसे विभूषित हुये। गङ्ग भट मुडुराचय्यको तलवारके घाट उतारनेके उपलक्षमें 'समर—परशुराम' और 'प्रतिपक्ष—राक्षस' उपाधियोंको उन्होंने धारण किया। भटवीरके किलेको नष्ट करके वह 'भटमारि' नामसे प्रख्यात हुये थे। वह वीरोचित गुणोंको धारण करनेमें शक्य थे एवं सुभटोंमें महान् वीर थे, इसलिये वह क्रमशः 'गुणवम्—काय' और 'सुभट चूडामणि' कहलाते थे। निस्सन्देह वह 'वीर—शिरोमणि' थे।

राजमंत्री ।

चामुंडराय एक वीर योद्धा और दक्ष सेनापति होनेके साथ ही वह एक कुशल राजमंत्री और राज्यव्यवस्थापक भी थे। राजमंत्री पदसे उन्होंने गङ्ग–राज–प्रणालीके अनुरूप देशका शासन सुचारु रूपसे किया। उनके मन्त्रित्वकालमें देशमें विद्या, कला, शिल्प और व्यापारकी अच्छी उन्नति हुई थी। गङ्गवाडीकी प्रजाकी अभिवृद्धि होना, चामुंडरायके शासनकी सफलताका प्रमाण है। इस कालके बने हुये सुंदर मंदिर, मनोहर मूर्तियां, विशाल सरोवर और उन्नत राजप्रासाद आज भी दर्शकोंके मनको मोह लेते हैं। यह इमारतें गङ्गराष्ट्रकी तत्कालीन समृद्धिशालीनताकी द्योतक हैं। और वह चामुंडरायको एक सफल राजमंत्री घोषित करती हैं। साथ ही गंग राष्ट्रकी उस समय अपने पड़ोसी राजाओंके प्रति जो नीति थी, उससे चामुंडरायकी गहन राजनीतिका पता चलता है।

साहित्योन्नति ।

उस समयकी सुख-शांति पूर्ण राज व्यवस्थाका ही यह परिणाम था कि गङ्गवाडीमें ललितकलाके साथ-साथ साहित्यकी उन्नति भी विशेष हुई थी। गङ्गवाडीमें कन्नड़ साहित्यकी प्रधानता थी। गङ्ग राजाओं और चामुंडरायने तत्कालीन कवियोंको आश्रय देकर उनका उत्साह बढ़ाया था। इन कवियोंमें उल्लेखनीय आदिपम्प, पोन्न, रन्न और नागवर्म हैं। आदिपम्प और पोन्नका समय चामुंडरायजीसे पहलेका है। उन्होंने गङ्गराजा एरेयप्पके संरक्षणमें साहित्य रचा था। किंतु रन्न और नागवर्म चामुंडरायके समकालीन थे।

चामुंडरायने इन्हें अपना संरक्षण प्रदान किया था। रण्ण वैश्य-जातिके नर-रत्न और उच्च कोटिके कवि थे। चौलुक्यराज तैलप आदिसे भी उन्होंने सम्मान प्राप्त किया था। उनके रचे हुये ग्रंथोंमें 'अजितपुराण' और 'साहस-भीम-विजय' उल्लेखनीय हैं। नागवर्मका 'छन्दोम्बुद्धि' नामक अलङ्कार ग्रंथ प्रख्यात है। उन्होंने महाकवि बाणके 'कादम्बरी' काव्यका अनुवाद किया था। कन्नड साहित्यके साथ उनके समयमें संस्कृत और प्राकृत साहित्य भी समुन्नत हुये थे। आचार्यप्रवर श्री अजितसेन, श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती, श्री माधवसेन त्रैविद्य-प्रभृति उद्भट विद्वानोंने अपनी अमूल्य रचनाओंसे इन भाषाओंके साहित्यको उन्नत बनाया था।

कवि। चामुंडराय स्वयं कनड़ी, संस्कृत और प्राकृतके एक अच्छे विद्वान् और कवि थे। अपने जीवनकी शांतिमय घड़ियां उन्होंने साहित्यानुशीलन और कविजनकी सत्संगतिमें बिताई थीं। वह न्याय, व्याकरण, गणित, आयुर्वेद और साहित्यके धुरंधर विद्वान् थे। उन्हे प्रकृतिकी देन थी जिससे वह शीघ्र ही अनूठी कविता रचते थे। उनके रचे हुये ग्रन्थोंमें इस समय केवल 'चारित्रसार' और 'त्रिषष्टि-लक्षण-पुराण' नामक ग्रन्थ मिलते हैं। पहला आचार विषयक ग्रन्थ संस्कृत भाषामें है और श्री माणिकचंद्र दि० जैन ग्रंथमाला बम्बईमें छपचुका है। दूसरा कन्नड़ भाषामें एक प्रामाणिक पुराण ग्रन्थ है। इसे 'चावुंडराय पुराण' भी कहते है। कहा जाता है कि चामुंडरायने श्री नेमिचन्द्राचार्यके प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ

'गोम्मटसार' पर एक कनड़ी टीका रची थी। निस्संदेह चामुंडराय जिस प्रकार एक महान् योद्धा और राजमंत्री थे, उसी प्रकार साहित्य और जैन सिद्धांतके मर्मज्ञ एक उच्च कोटिके कवि थे।

धार्मिक जीवन। "चावुंडराय पुराण" से प्रगट है कि वह एक श्रद्धालु जैन थे और उनके धर्मगुरु श्री अजितसेनाचार्य थे। चावुंडरायके पुत्र जिनदेवन् भी उन आचार्यके शिष्य थे और उन्होंने श्रवण-बेलगोलपर एक जैन मंदिर बनवाया था। शक्तिसम्पन्न होनेपर भी चावुंडरायने गरीबोंको नहीं भुलाया। वह जनहितके कार्योंको बराबर करते रहे। वह धर्मात्मा, विद्वान् और दानशील थे। खास बात उनके जीवनकी यह थी कि वह प्रगतिशील विद्वान् थे। परम्परागत रीतिरिवाजोंके प्रतिकूल भी उन्होंने धर्मवृद्धिके हेतु कदम बढ़ाया था। उनका धार्मिक दृष्टिकोण विशद और समुदार था। यही कारण है कि उन्होंने गोम्मट्टदेवकी विशालकाय देवमूर्तिकी स्थापना करके दर्शन–पूजन करनेका अवसर प्रत्येक भक्तको प्रदान किया था। अपनी दर्शन–विशुद्धिको उत्तरोत्तर निर्मल बनाते हुये वह दान और पूजारूप श्रावक धर्मको पालन करनेमें तल्लीन रहते थे। अपनी इस धार्मिकताके कारण ही वह "सम्यक्त्व–रत्नाकर" कहलाते थे। जैन धर्मके वह महान् संरक्षक थे। धर्मप्रभावनाके लिये उन्होंने अनेक कार्य किये थे। अनेक जिन प्रतिमाओं और जिन मंदिरोंकी उन्होंने प्रतिष्ठा कराई थी, जिनकी शिल्पकला अद्वितीय है। शास्त्रोंका प्रचार और उद्धार कराकर एवं पाठशालायें और जैन मठ स्थापित कराके ज्ञानका उद्योत किया था।

साधुजनोंके प्रचुर विहारसे परवादियोंका मद चूर हुआ था। श्रवणबेलगोलमें उन्होंने अद्भुत मंदिर और मूर्तियां निर्माण कराई थीं। सन् ९८१ में उन्होंने ५७ फीट ऊंची विशालकाय गोम्मट मूर्ति विंध्यगिरि पर्वतपर स्थापित कराई थी। यह मूर्ति शिल्पकलाका एक अनूठा नमूना है और आज उसकी गणना संसारकी आश्चर्यमय वस्तुओंमें की जाती है। उस मूर्तिकी रक्षाके लिये चामुंडरायने कई ग्राम भेंट किये थे। श्रवणबेलगोल ग्रामको भी उन्होंने बसाया था और वहांपर जैन मठ स्थापित करके श्री नेमिचन्द्रस्वामीको मठाधीश नियुक्त किया था। "गोम्मटसार" में श्री नेमिचन्द्राचार्यजीने श्रवणबेलगोलमें जिन मंदिर आदि निर्मित करानेके लिये चामुंडरायकी प्रशंसा की है। राजमल्लने उनके धार्मिक कार्योंसे प्रसन्न होकर उन्हें 'राय' पदसे अलंकृत किया था।

रक्कस–गंग। राजमल्लने अपने योग्यतम राजमंत्री और सेनापति श्री चामुंडरायके पथ प्रदर्शनमें गङ्ग राज्यके प्रतापको स्थायी बनाये रक्खा। उपरांत उनकी मृत्यु होनेपर उनका भाई रक्कस–गङ्ग राजा हुआ, जो युवावस्थामें पेड्डोरेके तटवर्ती प्रांतपर शासन करता था। राजमल्लकी सेनामें वह एक सेनापति भी रहे थे और उनका अपरनाम 'अण्णनवन्त' था। रक्कस गङ्गके राज्यकालके कतिपय प्रारंभिक वर्ष शांतिमय थे और उस समयको उन्होंने धार्मिक कार्योंको करने, मुख्यतः जैन धर्मको उद्योतित करनेमें व्यतीत किया था। इससमय

१–वीर वर्ष ७ चामुंडराय अंक पृष्ठ ३–८ व मंग० पृ० ११९–११४।

जैन धर्म राजाश्रय विहीन होकर अन्य मतावलम्बियोंका कोपभाजन बन रहा था। रक्कस गङ्गके संरक्षणमें वह एकबार पुनः चमक उठा। उन्होंने अपनी राजधानीमें भी एक जिनमन्दिर निर्माण कराया, बेलूरमें एक विशाल सरोवर पक्का कराया और कई स्थानोंके मन्दिरोंको दान दिया। नोलम्बपल्लव राजा उनके करद थे।

रक्कस गङ्गके कोई संतान नहीं थी, इसीलिये उन्होंने अपने छोटे भाईके एक लड़के और एक लड़कीको गोद लिया था। लड़केका नाम राजविद्याधर था। संभवतः वह जल्दी स्वर्गवासी होगया था। इसी कारण राजाको उनकी बहिनकी रक्षा विशेष रूपसे करनी पड़ी थी और उसे ही राज्याधिकारी बनानेका भी प्रबन्ध किया था। रक्कस गङ्गने छन्दोम्बुधिके रचियता कवि नागवर्मको आश्रय दिया था। नागवर्मने अपने ग्रन्थमें उनका विशेष उल्लेख किया है। उन्होंने सन् ९८५ से १०२४ ई० तक राज्य किया था। प्रारम्भमें वह स्वाधीन रहे थे; परन्तु जब चोलोंका जोर बढ़ा और इधर चामुंडराय स्वर्गवासी होगये, तो वह चोलोंकी छत्रछायामें शासन करते रहे थे। चामुंडरायके जीतेजी गङ्ग राज्यकी ओर कोई आंख भी न उठा सका था और उसका गौरव पूर्ववत् बना रहा था। किन्तु सन् ९९० के बाद गङ्ग राजाको चोल और चालुक्य सदृश प्रबल शत्रुओंसे मोरचा लेना पड़ा था; क्योंकि दोनों ही शासक नोलम्बवाड़ी और गङ्गवाड़ीको हड़प कर जाना चाहते थे।

चोलोंने पल्लवोंको हराकर दक्षिणवर्ती गङ्ग राज्यके प्रांतोंपर अधिकार जमाना शुरू किया था। उधर पूर्वी चालुक्य राज्यमें

घुसकर बेङ्गिको चोलोंने अपना खास स्थान बना लिया था। राजराजने अपनी कन्या पूर्वी चालुक्य राजा विमलादित्यको व्याह दी थी। फिर उन्होंने पश्चिमी चालुक्योंपर आक्रमण किया। इस आक्रमणके झपट्टेमें गङ्गवाड़ी भी आगई। गङ्ग और राष्ट्रकूट राजा पूर्वीय चालुक्योंके सहायक थे और अन्ततः दोनों ही अपने राजत्वसे हाथ धो बैठे! सन् १० ४ में राजेन्द्र चोलने तलकाड़को जीतकर गङ्ग राज्यका अन्त कर दिया। गङ्ग राज्यको उन्होंने अपने सरदारोंके आधीन अनेक प्रांतोंमें बांट दिया।[1]

पतन।

किन्तु इतने पर गङ्गवंश इतिहाससे बिल्कुल मिटा नहीं। उनके वंशजोंका अस्तित्व तलकाडका पतन होनेके बाद भी मिलता है। पश्चिमीय चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम (१०४२-१०६२) का विवाह एक गङ्ग राजकुमारीसे ही हुआ था। जिनकी कोखसे सोमेश्वर द्वितीय (१०६८-१०७६) और उनके पश्चात् भाई विक्रमाङ्क (१०७६-११२६) का जन्म हुआ था। चोलोंके अधिकारमें गंग वंशज कोलर प्रांतमें शासन करते रहे थे और उपरांत वही होयसल राजाओंके विश्वासपात्र राजपदाधिकारी बने थे। विष्णुवर्द्धन होयसलके सेनापति गङ्गराज भी इसी गङ्गवंशके पुरुष रत्न थे। उन्होंने सन १११७ ई० में तलकाड़ पर आक्रमण करके चोलोंके इदियन्न अथवा अदियन्न नामक सामन्तको परास्त किया था और तलकाड पर होयसलोंका अधिकार जमाया था। इसी प्रकार

१-मैग पृ० ११४-११८।

अन्य गङ्ग राजकुमार भी उन्नतिको प्राप्त हुए, जो चालुक्यों और होयसलोंकी शरणमें जारहे थे। उन्हीं लोगोंकी संतान आज राज्यश्री विहीन होकर मैसूरमें गङ्गवाड़िकर नामक लोग हैं।

गङ्ग साम्राज्यमें राजत्वका आदर्श ही राजाओंका पथ प्रदर्शक रहा। गङ्गराजा जानते थे कि प्रजाका

राजत्वका आदर्श। अपने राजा और मंत्रियोंमें विश्वास होना ही सफल शासनका चिह्न है। राजा और प्रजा मिलकर ही जनहितका बड़ेसे बड़ा कार्य कर सकते हैं। अतः राजाका यह कर्तव्य है कि प्रजाका सर्वोभद्र हित साधे। किरियमाधव, अविनीत दुर्विनीत श्रीपुरुष आदि गङ्गराजाओंने सदा ही अपनी प्रजाको प्रसन्न रखनेका ध्यान रक्खा। वह मनु सदृश आदर्श राज व्यवस्थापकके पदचिह्नों पर चलते थे। दूसरोंका हित साधना ही उनका संचित धन था। अपने शासितोंकी प्रसन्नतामें ही वे अपनी प्रसन्नता जानते थे। वे नीतिशास्त्रके नियमानुकूल ही राजत्वके आदर्शका पालन करते थे। जैनेतर मतोंमें दीक्षित हुए गङ्ग राजाओं जैसे विष्णुगोप आदिने वर्णाश्रम धर्मकी रक्षाका पूरा ध्यान रक्खा था। उनका प्रभाव उनके उत्तराधिकारियों पर भी पड़ा था। नीतिमार्गके लिये कहा गया है कि वह नीतिसारके अनुसार शासन करनेवाला सर्वश्रेष्ठ राजा थे। गंग राजाओंके राज्यकालमें पुरोहितोंका संगठन नहींके बराबर था और उनका प्रभाव भी न कुछ था। गंगराजा हमेशा स्वाधीन रीतिसे राजधर्मानुकूल शासन करते थे—साम्प्रदायिकताकी कट्टरतामें वह नहीं

बढ़े थे। यद्यपि जैनाचार्योंके पथप्रदर्शनको वह महत्व देते थे। प्रारंभमें ही दिदिग और माधवने श्री सिंहनन्दाचार्यके उपदेशको शिरोधार्य किया था। उपरांत विजयकीर्ति और पूज्यपादके सत्परामर्शसे क्रमशः अविनीत और दुर्विनीतने लाभ उठाया था एवं श्री तोरणाचार्य और उनके शिष्य पुष्पनन्दि राजा शिवमारके गुरु थे। इन आचार्योंका धर्मोपदेश शासनोंके जीवनोंको समुन्नत और समुदार बनानेमें कार्यकारी हुआ था। *

नियंत्रण। राजत्वके आदर्शको महत्व देनेवाले गङ्ग राजाओंके प्रति उच्छृङ्खलताकी आशङ्का करना आकाश कुसुमवत् था। वह स्वाधीन होते हुये भी उच्छृङ्खल नहीं थे। प्राचीन राजकीय नियमोंकी प्रतिपालना करना और कराना ही उनका धर्म था। उसपर उनके राज्यमें अनेक सामन्तोंका सद्भाव था। कदाचित् कोई राजा अन्यायकी ओर पग बढ़ाता तो यह सामन्तगण सब मिलकर उसका प्रतिकार कर सकते थे। साथ ही राजमंत्रियोंका अस्तित्व भी राजाकी शक्तिको परिमित बनानेमें कार्यकारी था। राजत्वका उत्तराधिकार वंश परम्परागत था। ज्येष्ठ पुत्र ही पिताके पश्चात् राजा होता था; परन्तु यदि राजसंतानमें कोई और पुत्र अथवा भाई योग्यतम प्रमाणित होता था तो वही राजा बनाया जाता था। राज्याभिषेकके पहले मंत्रिमण्डल और राज्यके प्रमुख पुरुषोंकी स्वीकारता प्राप्त करना भी आवश्यक थे।।

---

* गंमै० पृ० ११८-१२४. १-गग० पृ० १२५-१२६.

राजाके साथ रानीका अधिकार गङ्गराज्यमें सम्माननीय था।

रानीका महत्व। दरबारोंमें रानी बराबर राजाके साथ अर्द्धासन ग्रहण किया करती थी। इतना ही नहीं उसे राजसंचालनमें भाग लेनेका भी अधिकार प्राप्त था। वह राजाको समानता, न्याय और दयामय शासन करनेमें सहायक होती थी। श्रीपुरुष, बुटुग और पेरमडी राजाओंके लिये कहा गया है कि उनकी रानिया राजा और युवराजके साथ शासन करती थी। किन्हीं अवसरोंपर रानियोंको स्वतंत्र रूपमें किसी खास प्रांतका शासनाधिकार प्रदान किया जाता था। रानियोंके राजचिह्न संभवतः श्वेतसंख, श्वेतछत्र, स्वर्ण-दण्ड, और चमर होते थे। रानी राजाके सार्वजनिक कार्योंमें भाग लेती, मंदिरोंकी व्यवस्था करतीं, नये मन्दिर और तालाब बनवातीं और धर्मकार्योंमें दानकी व्यवस्था करतीं थीं। वह राजाके साथ छावनियोंमें जाकर रहती भी थीं।[1]

राजदरबार। राजाका अपना शानदार दरबार हुआ करता था, जिसमें राजा-रानी, राजगुरु, चौरीवाहक, सामन्त-सरदार, राजकर्मचारीगण और अन्य प्रमुख व्यक्ति बैठकर शोभा बढ़ाते थे। दरबारमें बैठकर ही राजा न्याय करता था और कवियों एवं विद्वानोंकी रचनायें और वार्तायें सुनकर उनको पारितोषक प्रदान करता था। धार्मिक वादविवाद भी इन दरबारोंमें हुआ करते थे; जिनमें कभी कभी राजा भी भाग लिया करता था।[2]

१-पूर्व पृष्ठ १२९-१३०. २-पूर्व पृ० ११०.

यूं तो राजा ही सर्वाधिकारी था, परन्तु राज्यका सारा काम अकेले ही कर लेना उसके लिये शक्य नहीं था। इसलिये ही वह विविध कार्योंके लिये राजमंत्री नियुक्त करता था और कार्याधिक्यके अनुसार ही उनकी संख्या भी कमती ज्यादा होती थी। बहुधा यह पद वंशपरम्परागत ही होता था। चामुंडरायके पिता और पितामह बुटुग और मारसिंहके राजमंत्री थे। राजमंत्रियोंमें दंडनायक (सेनापति), सर्वाधिकारी (प्रधान-मंत्री), मन्नेवेरगड्डे (राजकीय ...... ,) हिरियभंडारी, युवराज, संधिविग्रही और महाप्रधान होते थे, जो राज्य और न्यायकी व्यवस्थामें ही केवल भाग लेते हों, यह बात नहीं, बल्कि वह राजाके साथ दौरों और लड़ाइयों पर भी जाया करते थे। मंत्रियोंके अतिरिक्त महाप्रश्चित, महाआर्यक अथवा अंतःपुराध्यक्ष, अंतःपश्चित, निधिकार (कोषाध्यक्ष), राजपालक, पडियार, हदियार, सज्जेवक्क, हडपद आदि राजकर्मचारी होते थे। राजाके निजी और गुप्त कर्मचारी भी रहा करते थे। राजा, मंत्री और राजकर्मचारी राजनीतिमें दक्ष होते थे और तदनुसार कार्य करते थे।

राजमंत्रीगण।

प्रान्तीय शासनकी व्यवस्था गङ्गराज्यमें विविध राजकीय विभागों और विभाग-गत उच्च एवं लघु कर्मचारियोंकी नियुक्ति द्वारा होती थी। राज्यव्यवस्थाके लिये सारा गङ्गराज्य कई प्रांतोंमें बांट दिया गया था। जो नाडु, विषय, वेन्ट्रूच और खम्पन नामक अन्तर्भागोंमें विभक्त था। प्रांत

प्रांतीय शासन व्यवस्था।

मुख्यतः गङ्गवाडी ९६०००, बनवासी १२०००, पुन्नड १००००, कोंकुंड ३००, इलेनगरनाडु ७०, अवन्यनाडु ३०, और पोनेकुंड १२ थे। शिलालेखोंसे प्रकट है कि प्रांतोंके नामोंके आगे जो संख्या दी गई है वह प्रत्येक प्रान्तसे उपलब्ध आमदनीकी द्योतक है। प्रत्येक प्रान्तका शासन एक वायसरायके आधीन होता था, जो प्रायः राजवंशमेंसे ही नियुक्त किया जाता था। राजमंत्रिगण भी कभी-कभी प्रांतीय शासक नियुक्त किये जाते थे। यद्यपि प्रांतीय सरकारें अपना स्वाधीन अस्तित्व रखतीं थीं, परन्तु वह थीं केन्द्रीय सरकारके ही आधीन। प्रांतीय शासककी अपनी सेना थी। वह दान भी देता था और अपने राजक्षेत्रमें मनमाना शासन करता था। शासक प्रायः दंडनायक कहलाते थे। जो मंत्री सामंतोंपर शासन करता था वह 'महा सामन्ताधिपति' कहलाता था। इन प्रांतीय शासकोंका मुख्य कर्तव्य राजकर वसूल करना और न्यायकी व्यवस्था देना था। राजकी आज्ञा बिना वह राजकर न बढ़ा सकता था और न घटा ही। हेगडे अथवा राजाध्यक्ष हेगडे नामक कर्मचारीके आधीन प्रत्येक जिलेका शासनकार्य था। प्रभु या गौंड नामक कर्मचारी गांवकी व्यवस्थाका उत्तरदायी होता था। राजकर मुख्यतः फसलकी उपजका छट्ठा भाग होता था। फसलकी खतौनी बड़े अच्छे ढंगसे रक्खी जाती थी, जिससे प्रत्येक किसानको मालूम होजाता था कि उसे क्या राजकर देना है। आवश्यकता पड़नेपर मंत्रिमंडलकी सलाहसे राजा एक चौथाई राजकर भी वसूल करता था। खेतोंके बंजर पड़े रहने या फसल खराब होनेपर माफी और छूट भी राजा दिया करता था।

किसानोंके अतिरिक्त व्यापार आदिपर भी कर लगा करते थे। गङ्गोंने नाप और तोलके लिये अलग-अलग व्यवस्था नियत कर दी थी, उसीके अनुसार भूमिका नाप और नाजकी तौल हुआ करती थी। गङ्ग राज्यमें हग, कोडेवन, कम्रु और हेर द्रम्म नामक सिक्कोंका चलन था, जो सोनेके होते थे। उनपर एक ओर हाथी और दूसरी ओर किसी फूलका चिह्न बना होता था।

ग्रामव्यवस्था। गङ्ग राज्यव्यवस्थामें ग्रामका स्थान मुख्य था। ग्रामका महत्व और इस कारण उसकी पवित्रताकी छाप लोगोंके हृदयों पर ऐसी लगी हुई थी कि युद्धोंके बीचमें भी ग्राम अक्षुण्ण बने रहते थे। ग्रामोंकी व्यवस्था अपनी निराली थी। प्रत्येक ग्राममें एक मुखिया और एक गणक (Accountant) रहता था, जिनके पद वंशपरम्परागत नियत होते थे। प्रत्येक ग्रामकी एक सभा होती थी, जिसका अधिवेशन गांवके मन्दिरके मण्डपोंमें हुआ करता था। अधिवेशनके अवसरपर सरकारी अफसर भी मौजूद रहते थे। धर्मादा जायदाद और मन्दिर आदि पवित्र स्थानोंका प्रबन्ध भी उसके आधीन था। उसके द्वारा राज्यकर वसूल किये जाते थे और ग्रामकी आवश्यक्ताऐं जैसे सिंचाई आदिका प्रबन्ध किया जाता था। विवादस्थ विषयोंका निर्णय स्वयं राजा अथवा उसकी ओरसे नियुक्त 'धर्म-करनिक' नामक कर्मचारी किया करते थे। मन्दिरोंके पुजारी जिन्हें राजाकी ओरसे भूमिदान मिला होता था, जनतामें सम्मानकी दृष्टिसे देखे

१-गंग० पृष्ठ १३९-१५०

जाते थे और वे 'स्थानापति' कहलाते थे। ग्राम-कर्मचारी मुख्यत मुखिया (गोडं), सेनवोव, मनिगार और ग्रामलेखक होते थे। मुखियाका काम लगान वसूल करना और डाकुओंसे ग्रामकी रक्षा करना होता था। उसे एक पुलिस मजिस्ट्रेट जैसे अधिकार भी प्राप्त होते थे। उसका पद वंशपरम्परीण होता था, जिसको वह चाहता तो किसीको बेच भी सकता था। उनके पतियोंकी मृत्युके उपरांत विधवाओंको भी वह पद मिलता था।[1]

नगरोंका प्रबन्ध।

ग्रामके बाद नगरोंका स्थान था। नगर वहीं बसाये जाते थे कि जिस स्थानपर काफी जंगल और पानी एवं भोजनकी सामग्री प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होती थी। वे बहुधा पहाड़ोंके निकट ही हुआ करते थे, जिनके चारों ओर खाई और चहारदिवारी बनी होती थी। नगर सभा वहांका प्रबन्ध करती थी। सड़कों, कुओं और तालाबोंका बनवाना, जनोपकारक बगीचों और फलोंके बागोंका लगवाना तथा धर्मशाला, मन्दिर और कमलसरोवरोंको सिरजना नगरके आधीन था। नगरोंमें जन संख्याके अनुसार दोसे साततक 'फुरस'-'मठ'-'अग्रहार' और 'घटिका' होते थे, जिनके कारण विद्यार्थी दूरदूरसे ज्ञानोपार्जन करनेके लिये नगरोंमें आकर रहते थे। नगरमें आजीविकाकी अपेक्षा अठारह प्रकारकी जातियों अथवा श्रेणियोंके लोग रहा करते थे और उन्हींके प्रतिनिधि नगरसभा अथवा परिषदमें जाकर नगरका प्रबन्ध किया करते थे। परिषदमें

१-गंगा० १५०-१५२.

वणिक आदि श्रेणियोंके प्रतिनिधियोंके अतिरिक्त प्रधान, सेनबोव और मनिगार भी हुआ करते थे। प्रधान 'पट्टनस्वामी' ही हुआ करते थे। परिषद घरोंपर, और तेलियों, कुम्हारों, धोबियों, गाजों, दुकानदारों आदि पर कर लगाता था आयात और निर्यात कर भी परिषद वसूल करता था। ब्राह्मण इन करोंसे मुक्त थे। 'नागरिक' अथवा 'तोतीगार' नामक कर्मचारी द्वारा शांति और व्यवस्थाका प्रबन्ध होता था। राजा नगरपरिषदके निर्णयोंको बड़े सम्मानकी दृष्टिसे देखता था।[1]

सैनिक व्यवस्था। राज्योंकी सैनिक व्यवस्था सामन्तोंकी ऋणी थी; यद्यपि राजाकी अपनी सेना हुआ करती थी परन्तु युद्धके समय सामन्तगण और प्रान्तीय शासकगण अपनी-अपनी सेना लेकर राजाकी सहायताके लिये आते थे। वैसे राजा चाहता था उतने मनुष्योंको सेनामें भरती कर लेता था। स्थायी सेना मुख्यतः तीन भागोंमें विभक्त थी अर्थात् (१) पैदलसेना, (२) घुड़सवार (३) और हाथियोंकी सेना। उच्च सैनिक शिक्षाके स्थानपर सैनिकोंमें राजाके प्रति अटूट भक्ति और उत्साहका बाहुल्य था। यद्यपि शिलालेखोंमें चतुरङ्ग-सेनाका उल्लेख है, परन्तु रथसेनाका विशेष उपयोग होता नहीं मिलता। यदि रथ युद्धके लिये काममें लिया जाता था तो बहुत कम। सेनाके उच्च राजकर्मचारीगण 'दंडनायक'-'महाप्रचंड दण्डनायक'-'महासामन्ताधिपति' और 'सेनाधिपति हिरियदेडुवक'

१-मग० १५८-१६२.

कहलाते थे। सामान्य सेनापति 'दण्डाधिप' कहलाते थे। घुड़-सेनाके स्वामी 'अश्वाध्यक्ष' अथवा 'तुरुग-साहजी' नामसे पुकारे जाते थे। इनके अतिरिक्त सेनामें आकर मंडलीक, वैद्य और महा बड्व्यवहारी (कमसरियट) भी होते थे। सेनामें बहुधा डाकुओंको भरती कर लिया जाता था, जो धनुर्विद्यामें बड़े चतुर होते थे। हाथियोंकी सेना मुख्य समझी जाती था। सैनिक चमड़ेका कोट और फौलादका बख्तर तथा टोप पहनते थे। ढाल-तलवार, धनुष, बाण, बरछी भाला आदि उनके शस्त्र होते थे। उनके पास एक प्रकारकी बदूकें (Fire arms) भी होतीं थीं। युद्धके समय राजा प्रजापर एक विशेष प्रकारका कर भी लगाता था। मानवोंकी निरर्थक हिंसा अधिक न हो, इसलिये मन्त्रिगण बहुधा जलयुद्ध—मल्लयुद्ध आदि सामान्य रूपमें जय-पराजयके निर्णायक उपायोंकी व्यवस्था देते थे। यदि शत्रु मुंहमें तृण दबाता तो समझ जाता था कि उसने पराजय स्वीकार करली है। गंग सेनाकी एक खास बात यह थी कि कुछ सैनिक इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करते थे कि वे रणक्षेत्रमें राजाके साथ प्राण देदेंगे और यदि जीते बचे तो राजाकी मृत्यु पर उनके साथ अपनेको जला देंगे! राजभक्तिकी यह पराकाष्ठा थी![1]

न्याय-व्यवस्था। गङ्ग राज्यमें न्यायकी व्यवस्था राजाके ही आधीन थी। राजा निष्पक्ष होकर न्याय करता था। यदि अपराधी स्वयं राजाका निकट सम्बन्धी होता था तो भी दण्डसे वञ्चित नहीं किया जाता था।

---

[1]-गग० पृ० १६२-१७०।

न्यायमें राजाका हाथ महादण्डनायकके अतिरिक्त धर्माध्यक्ष और राजाध्यक्ष नामक कर्मचारी भी बटाते थे। यदि किसी व्यक्तिको पुत्र नहीं होता था तो उसकी मृत्युके पश्चात् उसके धन-दौलतकी मालिक उसकी विधवा पत्नी और पुत्रियां भी होती थीं; यह बात गङ्ग न्यायमें खास थी। दासपुत्रोंको भी उत्तराधिकार प्राप्त था। पहले 'कुल'में किसी झगड़ेको तय किया जाता था। उसकी अपील व्यापारिक केन्द्र 'श्रेणी'में होती थी और उसकी भी अपील 'पूग' नामक सार्वजनिक सभा जिसमें सभी नागरिक सम्मिलित होते थे, हो सकती थी। अंतिम निर्णय राजाके आधीन था। न्याय व्यवस्थामें राजाको अधिक कठोर बननेकी आवश्यक्ता नहीं थी। जैनधर्मके प्रचारके कारण *गङ्गवाड़ीके निवासियोंमें दया-करुणा, सत्य, नैतिक दृढ़ता आदि गुणोंका बाहुल्य था*, जिसकी वजहसे अपराधोंकी संख्या बहुत कम होती थी। अपराधियोंको बहुधा जुर्मानेका दण्ड दिया जाता था। प्राणवधका अपराधी अवश्य फांसीकी सजा पाता था।[२]

धार्मिक स्थिति। गंगवाड़ीके निवासियोंमें अनेक प्रकारके मतमतान्तरोंकी मान्यता थी। बहुधा लोग नागपूजाके अभ्यासी थे। वह भूत-प्रेत और वृक्षोंकी भी पूजा करते थे। ब्राह्मण, जैन और बौद्ध-तीनों धर्म

१-गग० पृ० १७१-१७३।

२-" As Jainism, tne domineut rel'gion of Gangavadi laid the strongest emphasis on moral rectitude and sanctity of animal life and promoted high truthfulness and honesty among the people, crime seems to have been rare.

—M. V Krishna Rao, M. A., B. T.) गङ्ग पृष्ठ १७७)

लोगोंमें प्रचलित थे। ब्राह्मणलोग पहले शैव धर्मके ही अनुयायी थे। कुछ लोग 'अग्नि'के भी पुजारी थे। उपरांत वैष्णवधर्मका भी प्रचार होगया था। जैनधर्मने अपना महत्वशाली स्थान प्राचीनकालसे जनतामें कर रक्खा था। दक्षिणका जैनधर्म वही प्राचीन धर्म था जिसका उपदेश अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीरने दिया था; क्योंकि भद्रबाहुस्वामीके समयमें जैन संघ अविभक्त था और उसी अविभक्त संघके अधिकांश आचार्य और साधु दक्षिण भारतमें आये थे। वह लोग अपनेको 'मूलसंघ'का बतलाते थे। निस्सन्देह श्वेताम्बर जैनी वहां मिलते भी नहीं है। मंदिरोंमें दिगम्बर प्रतिमायें ही स्थापित की जाती थीं और उनको ही लोग पूजते थे। ईस्वी प्रारम्भिक शताब्दियों तक बौद्ध धर्म भी दक्षिणमें प्रचलित रहा; परन्तु अपने शून्यवाद और क्रियाकांडके सर्वथा अभावके कारण वह वहां ब्राह्मणों और जैनोंके सम्मुख टिक न सका।[1]

गंगराजा और जैनधर्म।

गंग वंशके राजा मुख्यतः जैनधर्मके ही भक्त थे; परन्तु धार्मिक विषयोंमें उनकी राजनैतिक रीति-नीति समुदार थी। वे जैनोंके साथ ब्राह्मणों और बौद्धोंका भी आदर-सत्कार करते थे और किसी किसी राजाने उनको दान भी दिया था। किंतु जैनधर्म पर गंगराजा विशेष रूपमें सदय हुये थे। हम लिख चुके हैं कि गंग वंशके आदि पुरुष माधव और दिद्दिग जैनाचार्य सिंहनंदिके शिष्य थे, जिन्होंने उन्हें जैनधर्ममें दीक्षित

१-मंगा०, पृ० १७९-१९०।

किया था। 'यथा राजा तथा प्रजा:'की उक्ति उस समय कार्यकारी हुई। गंगवाड़ीमें जैनधर्मकी जड़ गहरी बैठ गई, उसका खूब ही प्रचार हुआ। जिनेन्द्रकी छत्रछायामें ही गंगवंशी शासकोंने राज्य किया। यद्यपि विष्णुगोपने वैष्णवमत ग्रहण कर लिया था; परन्तु फिर भी जैनधर्मका सितारा ऊंचा बना रहा। श्री विक्रमके समयसे गंगवंशके राजाओंने जैनधर्मका पालन खूब दृढ़ताके साथ किया। उधर राष्ट्रकूटोंका साहाय्य और संरक्षण भी जैनधर्मको प्राप्त हुआ था। इन कारणोंसे जैनधर्मका इससमय विशेष अभ्युदय हुआ था। कई गंगवंशी राजा जैसे नीतिमार्ग, बुटुग और मारसिंह केवल जैनसिद्धान्तके धुरंधर विद्वान् थे, इतना ही नहीं बल्कि अपने महान् धर्मकार्योंके लिये भी वह प्रसिद्ध थे, जिन्होंने मन्दिरों, बस्तियों, मठों, मानस्तंभों, पुलों तालाबों आदिको निर्माण कराया और उनके लिये भूमिदान भी दिया। चामुंडरायने 'चामुंडराय बस्ती' और विशाल गोम्मटमूर्ति श्रवणबेलगोलमें निर्मापित कराये। और तो और, आखिरी अंधकारमय अवसर पर भी रक्कसगंग और नीतिमार्ग तृतीयने जैनधर्म प्रचार और प्रभावके लिये प्रशंसनीय उद्योग किया था। उन्होंने तलकाडमें एक भव्य मन्दिर निर्माण कराया तथा और भी बहुतसे धार्मिक कार्य किये। खेद है कि यह सुन्दर नगर आज कावेरी नदीके रेतमें दबा पड़ा है। यदि कभी खुदाई हुई और उसका उद्धार हुआ, तो अपूर्व जैन कीर्तियां वहांसे उपलब्ध होंगी।[1]

इसप्रकार राजाश्रय प्राप्त करके जैनधर्म उन्नतावस्थाको प्राप्त

1—गंग०, पृष्ठ २०४-२०५.

हुआ और इस कालमें अनेक धुरंधर जैनाचार्योंने उसके नाम और काममें चार चाद लगा दिये। उनके सतत और पुनीत अध्यवसायके वशवर्ती हो दिगम्बर जैनधर्म दक्षिण भारतमें नवीं शताब्दि तक सर्वोपरि रहा। इतिहासको सर्व प्राचीन दिगम्बर जैनाचार्य रूपमें श्रुतकेवली भद्रबाहुका ही पता है। वह मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्तके साथ जैनसंघको लेकर दक्षिणभारतमें आये थे और श्रवणबेलगोलमें ठहरे और समाधिको प्राप्त हुये थे, यह हम पहले लिख चुके हैं। उस जैनसंघ द्वारा जैनधर्मका खूब प्रचार हुआ था। श्रवणबेलगोल, दैन-पाडवमलय आदि स्थान संभवतः इन्हीं साधुओंके कारण तीर्थरूपमें प्रसिद्ध हुये थे। इन साधुओंकी तपस्यासे पवित्र हुये स्थान भला क्यों न पूज्य होते? जनता इन साधुओंको चमत्कारिक ऋद्धि-सिद्धि दाता भी मानते थे और उनकी पूजा विनय श्रद्धापूर्वक करते थे। प्रत्येक सम्प्रदायके आचार्य अपने मतको ही सर्वप्रधान बनानेका उद्योग करते थे। जैनाचार्योंने इस अवसरसे लाभ उठाया और चौथी शताब्दिके लगभग जैनधर्मको पांड्य, चोल और चेर देशोंमें प्रमुखपद-पर ला बैठाया। तामिल साहित्य जैनोंके संरक्षणमें वृद्धिगत हुआ। कुंदकुंदाचार्य सदृश प्राचीन और महान् आचार्यने इस पुनीत कार्यमें अपनेको उत्सर्ग कर दिया, यह पहले लिखा जाचुका है।

दिगम्बर जैनाचार्य।

कहते हैं कि वह द्राविड़संघके मूलस्थान पाटलीपुत्रमें ही संभवतः रहते थे और उनके शिष्य प्रसिद्ध पल्लव राजकुमार शिवकुमार महाराज थे, जिनके लिये उन्होंने अपने अनूठे ग्रंथ-रत्न लिखे थे। उन्होंने

जैनधर्म प्रचारके लिए पांड्य, चोल और चेर देशमें कई वार भ्रमण करके भव्योंका उद्धार किया था। यह आचार्य महाराज इतने मान्य और प्रसिद्ध हुए कि इनके नामकी अपेक्षा जैन साधुओंका 'कुन्द-कुन्दान्वय' अस्तित्वमें आया। कुन्दकुन्दस्वामीके बाद दूसरे प्रख्यात आचार्य स्वामी समन्तभद्र थे। इनकी प्रतिभा और पवित्रताने जैन धर्मको खूब ही प्रकाशित किया था। इनका भी वर्णन पहले लिखा जाचुका है। गङ्ग राजवंशके वर्णनमें विशेष उल्लेखनीय श्री सिंह-नन्दाचार्य हैं। उनका महान् व्यक्तित्व, प्रतिभा और प्रभाव इसीसे प्रकट है कि उन्हींकी सहायतासे माधव और दिदिग गङ्गराज्यकी स्थापना करनेमें सफल–मनोरथ हुए थे। सिंहनन्दि आचार्यने उन राजकुमारोंको केवल धर्मोपदेश ही नहीं दिया था; बल्कि उनको सेना और अन्य राजकीय शक्तियां भी प्राप्त कराई थीं।

खेद है कि इन महान् आचार्यके विषयमें अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ है। हाँ, यह अनुमान किया जाता है कि सिंह नंदिके निकटतम उत्तराधिकारी वक्रग्रीव, 'नवस्तोत्र' के रचयिता वज्रनन्दिन् और 'त्रिलक्षण सिद्धान्त' के खंडनकर्ता पात्रकेसरी थे। वक्रग्रीव आचार्यकी विद्वत्ताका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि उन्होने 'अथ' शब्दका अर्थ लगातार छै महीने तक प्ररूपा था। वज्रनन्दिन् संभवतः आचार्य पूज्यपादके शिष्य थे, जिन्होंने मदुरामें 'द्राविड़ संघ'की स्थापना केवल जैन धर्मके प्रचारके लिये की थी।

१–गगं०, पृष्ठ १९३–१९६.
२–जैशिसं०, भूमिका पृष्ठ १२८.

आचार्य पात्रकेसरीका स्थान तत्कालीन जैन संघमें उल्लेखनीय था। वह जन्मसे जैनी नहीं थे। जैन धर्ममें वह दीक्षित हुए थे। इस घटनासे उस समयके जैनाचार्योंके धर्मप्रचारका महत्व स्पष्ट होता है। उनके निकट धर्मप्रभावना केवल नयनाभिराम मंदिरों और मूर्तियोंको बना देनेसे ही नहीं थी, बल्कि मिथ्यादृष्टियोंके अज्ञानको मिटा देना ही उनके निकट सच्चा धर्मप्रभाव था। पात्रकेसरीके समान उद्भट वैदिक धर्मानुयायी ब्राह्मण विद्वान्‌का जैनी होना उन जैनाचार्योंके अकाट्य पाण्डित्य और प्रतिभाका ज्ञापक है। आचार्य पात्रकेसरीका कर्मक्षेत्र अहिच्छत्र नामक स्थान था[1]। वहां वह राज्यमें किसी अच्छे पदपर आसीन थे। स्वामी समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रको सुनकर उनकी श्रद्धा पलट गई थी और वह जैनधर्ममें दीक्षित होगये थे। जैनी होनेपर उनके भाव उत्तरोत्तर पवित्र होते गये। यहांतक कि वह अन्ततः दिगम्बर जैन मुनि होगए। मुनि दशामें वह पवित्र आचारको पालते और निर्मल ज्ञानको प्रकाशित करते थे।

पात्रकेसरी।

"भगवज्जिनसेनाचार्य जैसे आचार्योंने आपकी स्तुति की है और आपके निर्मल गुणोंको विद्वानोंके हृदयपर हारकी तरहसे आरूढ़ बतलाया है।" पात्रकेसरीस्वामीने 'जिनेन्द्रगुणसंस्तुति' नामक एक स्तोत्र ग्रन्थ रचा था, जिसे "पात्रकेसरी स्तोत्र" भी कहते हैं और जो 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' में छप चुका है। इस

१-अहिच्छत्र नामक स्थान दक्षिण भारतमें भी था। चूंकि पात्र-केशरीके समसामयिक विद्वान् दक्षिणमें ही हुए थे, इसलिए वह भी दक्षिण अहिच्छत्रमें हुए प्रतीत होते हैं।

रचनासे प्रगट है कि उनके ग्रन्थ बड़े महत्वके होते थे । परन्तु खेद है कि उनकी अन्य कोई रचना उपलब्ध नहीं है । ग्यारहवीं शताब्दि तक उनके प्रसिद्ध न्याय ग्रन्थ 'त्रिलक्षण कदर्थन' के अस्तित्वका पता चलता है । बौद्धाचार्य शांतिरक्षित (सन् ७०५-७६२) ने अपने 'तत्वसंग्रह' नामक ग्रंथमें उससे कतिपय श्लोक उद्धृत किये थे । अकलंकदेवके ग्रंथोंके प्रधान टीकाकार श्री अनन्तवीर्य आचार्यने, जिनका आविर्भाव अकलंकदेवके अंतिम जीवनमें अथवा उनसे कुछ ही वर्षों बाद हुआ जान पड़ता है, अकलंकदेव कृत 'सिद्धविनिश्चय' ग्रन्थकी टीकाके 'हेतुलक्षण सिद्धि' नामक छठे प्रस्तावमें पात्र-केसरीस्वामी, उनके "त्रिलक्षण-कदर्थन" ग्रन्थ और उनके 'अन्यथानुपपन्नत्वं' नामके प्रसिद्ध श्लोकके विषयमें उल्लेखनीय चर्चा की है; जिससे पात्रकेसरीकी विद्वत्ता और योग चर्याका पता चलता है । कहते हैं कि उक्त श्लोककी रचनामें उन्हें श्री पद्मावती-देवीने सहायता प्रदान की थी । वह तीर्थंकर सीमंधरस्वामीके निकटसे उक्त श्लोकको प्राप्त करके लाई और पात्रकेसरीको उसे दिया । शासनदेवताका इस प्रकार सहायक होना पात्रकेसरीको एक ऊंचे दर्जेका योगी प्रमाणित करता है। उस श्लोकको पाकर ही पात्रकेसरी बौद्धोंके अनुमान विषयक हेतु लक्षणका खण्डन करनेके लिये समर्थ हुए थे । श्रवणबेलगोलके 'मल्लिषेण प्रशस्ति' नामक शिलालेख (नं० ५४-६७ में, जो कि शक सं० १०५० का लिखा हुआ है, 'त्रिलक्षण-कदर्थन' के उल्लेखपूर्वक पात्रकेसरीकी स्तुति की गई है । यथाः—

"महिमासपात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षण-कदर्थनं कर्तुम्॥"

भावार्थ—उन पात्रकेसरी गुरुका बड़ा माहात्म्य है जिनकी भक्तिके वश होकर पद्मावतीदेवीने 'त्रिलक्षण कदर्थन' की कृतिमें उनकी सहायता की थी। बेलूर तालुकेके शिलालेख नं० १७ में भी श्री पात्रकेसरीका उल्लेख है। इसमें समन्तभद्रस्वामीके बाद पात्रकेसरीका होना लिखा है और उन्हें समन्तभद्रके द्रमिल संघका अग्रेसर सूचित किया है। साथ ही, यह प्रकट किया है कि पात्रकेसरीके बाद क्रमशः वक्रग्रीव, वज्रनन्दी, सुमतिभट्टारक, और समयदीपक अकलंक नामके प्रधान आचार्य हुये हैं। इस उल्लेखसे पात्रकेसरीकी प्राचीनताका पता चलता है। वे अकलंक देवसे बहुत पहले हुये प्रतीत होते हैं। द्राविड़ संघकी स्थापना वि. सं. ५२६ में वज्रनन्दीने की थी। अतः उनसे पहले हुए पात्रकेसरीका समय छठी शताब्दीसे पहले पांचवीं या चौथी शताब्दिके करीब होना चाहिये। कतिपय विद्वन् श्री विद्यानन्दि स्वामीका ही अपरनाम पात्रकेसरी समझते हैं, परन्तु यह भूल है। पात्रकेसरी एक भिन्न ही प्रभावशाली आचार्य थे।[१]

अन्य आचार्य।

गङ्ग राज्यमें जैनधर्मका प्रचार करनेवाले आचार्योंमें भट्टारक सुमतिदेव भी उल्लेखनीय थे। श्रवणबेलगोलकी मल्लिषेण प्रशस्तिमें उनका उल्लेख हुआ है और उन्हें 'सुमतिसप्तक' नामक सुभाषित

१—अनेकान्त, भा० १ पृ० ६८—७८।

ग्रन्थका रचियता लिखा है। इस ग्रन्थमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थोंका अच्छा विवेचन किया गया था। दूसरे उल्लेखनीय आचार्य श्री कुमारसेन, चिन्तामणि, श्री वर्द्धदेव और महेश्वर थे। श्री वर्द्ध-देवका दूसरा नाम उनके जन्मस्थानके नामकी अपेक्षा तुम्बुलाचार्य था। उन्होंने ९६००० श्लोक प्रमाण 'चूड़ामणि' नामक ग्रन्थकी रचना की थी; जिसके कारण वह 'कवि चूड़ामणि' कहलाये थे।[1] महाकवि दण्डिन् (७वीं शताब्दि) ने इनकी प्रशंसामें कहा था कि:—

'जह्नोः कन्यां जटाग्रेण बभार परमेश्वरः।
श्रीवर्द्धदेव सन्धत्से जिह्वाग्रेण सरस्वतीं' ॥

भावार्थ—जिसप्रकार शिवजीने अपनी जटाके अग्रभागसे गंगाको धारण किया, उसी प्रकार श्रीवर्द्धदेवने अपनी जिह्वाके अग्रभागसे साक्षात् सरस्वतीको धारण किया है। निस्संदेह आचार्य श्रीवर्द्धदेवकी प्रतिभा और कीर्ति अद्वितीय थी।

देवनंदि पूज्यपाद।

श्री वर्द्धदेव आचार्यके समकालीन विद्वान् पूज्यपाद थे, जिनका दीक्षानाम देवनन्दि था और जो संभवतः छठी शताब्दिमें अपने अस्तित्वसे इस धरातलको पवित्र बना रहे थे। शास्त्रोंमें उनकी प्रसिद्धि एक योगी—रूपमें विशेष है। अपनी महद् बुद्धिके कारण वह जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये थे। कनड़ीके 'पूज्यपाद चरित्र' नामक ग्रन्थमें उनका जीवन—वृतात लिखा हुआ मिलता है। उससे

१—गग० पृ० १९६-१९७।

विदित होता है कि 'पूज्यपादका जन्म कर्णाटक देशके कोले नामक ग्राममें रहनेवाले माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणीके गृहमें हुआ था। माधवभट्टने अपनी पत्नीके आग्रहसे जैनधर्म स्वीकार किया था। इसलिये बालक पूज्यपाद जन्मसे ही जैन वातावरणमें पाले-पोसे और शिक्षित-दीक्षित किये गये थे। पूज्यपादकी एक छोटी बहिन थी, जिसका नाम कमलिनी था। वह गुणभट्टको ब्याही थी और उसका नागार्जुन नामका पुत्र था। एकदफ़ा पूज्यपादने एक बगीचेमें एक सांपके मुंहमें फंसे हुये मेंडकको देखा, जिससे उन्हें वैराग्य होगया और वे दिगम्बर जैन साधु बन गये। उधर गुणभट्टके मरजानेसे नागार्जुन अतिशय दरिद्र होगया। साधुप्रवर पूज्यपादको उस पर दया आगई और उन्होंने उसे पद्मावतीका एक मन्त्र दिया एवं उसे सिद्ध करनेकी विधि बतला दी। पद्मावतीने नागार्जुनके निकट प्रकट होकर उसे सिद्धरसकी वनस्पति बतलादी। इस सिद्ध-रससे नागार्जुन सोना बनाने लगा। उसने एक जिनालय बनवाया और उसमें भगवान् पार्श्वनाथकी प्रतिमा स्थापित की। पूज्यपाद परमयोगी थे। वह गगनगामी लेप लगाकर विदेह क्षेत्रको जाया करते थे। उन्होंने मुनि अवस्थामें बहुत समय तक योगाभ्यास किया और एक देवके विमानमें बैठकर अनेक तीर्थोंकी यात्रा की। तीर्थयात्रा करते हुये मार्गमें एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट होगई थी सो उन्होंने एक शान्त्याष्टक रचकर ज्योंकी त्यों करली। इसके बाद उन्होंने अपने ग्राममें आकर समाधिपूर्वक मरण किया। उन्होंने 'जैनेन्द्र व्याकरण 'अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण' और वैद्यक-ज्योतिषके कई ग्रन्थ रचकर

जैनधर्मका उद्योत किया था। "[१] इस वृतान्तसे स्पष्ट है कि (१) पूज्यपाद कर्णाटक देशके अधिवासी ब्राह्मण थे, (२) उनका कार्यक्षेत्र भी वहां ही था, (३) उन्होंने विदेहक्षेत्रकी यात्रा की थी, (४) जैनेन्द्र व्याकरण आदि ग्रन्थोंको उन्होंने रचा था, (५) और वह एक बड़े योगी एवं मंत्रवादी थे। 'पूज्यपाद चरित्र' में वर्णित इन बातोंका समर्थन अन्य स्रोतसे भी होता है। गङ्ग राजा दुर्विनीतके वह गुरु थे, यह पहले लिखा जा चुका है। अतः पूज्यपादका कार्य-क्षेत्र दक्षिण भारत ही प्रमाणित होता है। मर्करा (कुर्ग) के प्राचीन ताम्रपत्र (वि० सं० ९१३) में कुन्दकुन्दान्वय और देशीयगणके मुनियोंकी परम्परा इसप्रकार दी है:—गुणचन्द्र, अभयनंदि शीलभद्र, ज्ञाननंदि, गुणनंदि, और वदननंदि। अनुमान किया जाता है कि पूज्यपाद इन्हीं वदननंदि आचार्यके शिष्य अथवा प्रशिष्य थे। उनके सम्बन्धमें निम्न श्लोक भी विद्वानों द्वारा उपस्थित किया जाता है—

'यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो।
बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः॥
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभि-
र्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्॥'

भावार्थ—'उन आचार्यका पहला नाम देवनन्दि था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोंकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ। श्रवण-बेलगोलके (नं० १०८) मंगराज कविकृत शिलालेखमें (वि०

१—जैहि० भा० १५ पृ० १०५।

सं० १५००) में उनके विषयमें नीचे लिखे श्लोक उपलब्ध होते हैं-

" श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः ।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥ १५ ॥
धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुबिभ्रदुच्चकैः ।
जिनवद्बभूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ॥ १६ ॥
श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धि जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः ।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥१७॥'

इन श्लोकोंका अभिप्राय यह है कि पूज्यपाद स्वामी देवेन्द्रों द्वारा पूज्यनीय थे। वह बड़े गुणी, बहु शास्त्रविज्ञ, विश्वोपकारकी बुद्धिके धारक परम योगी थे। वह अपनी बुद्धिकी प्रकर्षताके कारण जिनेन्द्रबुद्धि कहलाते थे। वह औषधि ऋद्धिके धारण करनेवाले विदेह क्षेत्रमें स्थित जिनेन्द्रके दर्शन द्वारा हुए पवित्रगात थे और उनके पदप्रक्षालित जलसे लोहा भी सोना होजाता था। विद्वानोंने उनकी विद्या और प्रतिभाकी पद-पदपर प्रशंसा की है और उनका उल्लेख संक्षिप्त 'देव' नामसे भी किया है। श्री वादिराजने उनकी अचिन्त्य महिमा बताई[1] और श्री जिनसेनाचार्यने उन्हें देववन्द्य एवं 'जैनेन्द्र' नामक व्याकरणका कर्त्ता लिखा है।[2] श्री शुभचंद्राचार्यने उनको सदा पूज्यपाद वैयाकरण कहा है और धनंजय कविने भी उनके व्याकरणका उल्लेख किया है।[3] वैयाकरणके रूपमें

१-'अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।' -पार्श्वनाथचरित सर्ग १.

२-' इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापि व्याकरणेक्षिण. ।
देवस्य देववन्द्यस्य न वन्दते गिरः कथम् ॥ '—हरिवंश पुराण ।

३-'पूज्यपादः सदा पूज्यपादः पूज्यैः पुनातु माम् । इत्यादि।'-पांडवपुराण।
' पूज्यपादस्य लक्षणम् । '—नाममाला ।

पूज्यपादकी प्रसिद्धि यहांतक हुई थी कि व्याकरणमें किसी विद्वान्‌की विद्वत्ता प्रकट करनेके लिए लोग उन्हें साक्षात् 'पूज्यपाद' कहा करते थे।[1] कनड़ी कवि वृत्तिविलासने स्वरचित 'धर्मविलास' की प्रशस्तिमें पूज्यपादजीकी बड़ी प्रशंसा लिखी है और उनकी अन्यान्य रचनाओंका उल्लेख निम्न प्रकार किया है:—

"भरदि जैनेन्द्रभासुर=एनल् ओरेदं पाणिनीयक्के टीकुं बरेदं तत्त्वार्थमं टिप्पणदिन् अरिपिदं यं.मंत्रादिशास्त्रोक्तकरम्। भूरक्षणार्थं विरचिसि जसमुं तालिददं विश्वविद्याभरणं भव्यालियाराधितपदकमलं पूज्यपादं व्रतीन्द्रम ॥"

भावार्थ—"व्रतीन्द्र पूज्यपादने, जिनके चरणकमलोंकी अनेक भव्य आराधना करते थे और जो विश्वभरकी विद्याओंके शृंगार थे, प्रकाशमान जैनेन्द्र व्याकरणकी रचना की, पाणिनि व्याकरणकी टीका लिखी, टिप्पण द्वारा तत्त्वार्थका अर्थविबोधन किया और पृथ्वीकी रक्षाके लिये यंत्रमंत्रादि शास्त्रकी रचना की।" आचार्य शुभचन्द्रने 'ज्ञानार्णव' के प्रारम्भमें देवनन्दि (पूज्यपाद) की प्रशंसा करते हुए लिखा है —

'अपा कुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्‌चित्तसंभवम्।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥'

अर्थात्—"जिनकी वाणी देहधारियोंके शरीर, वचन और मन सम्बन्धी मैलको मिटा देती है, उन देवनंदीको मैं नमस्कार करता

---

[1]—'सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिप श्री पूज्यपादः स्वयं।'
— श्रवणबेलगोल शि० नं० ४७।

हूं।" देवनंदि (पूज्यपाद) के तीन ग्रन्थोंको लक्ष्य करके यह प्रशंसा की गई प्रतीत होती है। शरीरके मैलको नाश करनेके लिये उनका वैद्यक-शास्त्र, वचनका मैल (दोष) मिटानेके लिए 'जैनेन्द्र व्याकरण' और मनका मैल दूर करनेके लिए 'समाधितंत्र' नामक ग्रंथ उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि देवनन्दि पूज्यपाद एक बहु प्रख्यात आचार्य थे। उन्होंने सारे दक्षिण भारतमें भ्रमण करके धर्मका उद्योत किया था। जहां जहां वह जाते थे वहां वहां वादियोंसे वाद करते और विजय पाते थे, जिससे जैन धर्मकी अपूर्व प्रतिष्ठा स्थापित होगई थी। उनकी विद्या सार्वदेशी थी, जिसके कारण उन्होंने सिद्धांत, न्याय और व्याकरणके अद्वितीय ग्रन्थ रचे थे। उनका 'जैनेन्द्र व्याकरण' ही संभवतः जैनियोंद्वारा रचा हुआ संस्कृत भाषाका पहला व्याकरण है। इसके अतिरिक्त उन्होंने निम्न ग्रंथोंकी रचना और की थी:—

१—सर्वार्थसिद्धि—दिगम्बर सम्प्रदायमें आचार्य उमास्वामी कृत तत्वार्थाधिगम सूत्रकी यही सबसे पहली टीका है। इससे प्राचीन टीका स्वामी समन्तभद्र कृत गंधहस्ति भाष्य था; परन्तु वह अनुपलब्ध है।

२—समाधितंत्र—अध्यात्म विषयका बहुत ही गम्भीर और तात्विक ग्रन्थ है।

३—इष्टोपदेश—केवल ५१ श्लोक प्रमाण छोटासा सुन्दर उपदेशपूर्ण ग्रंथ है।

४—न्यायकुमुद चन्द्रोदय—न्यायका ग्रन्थ है, जिसका उल्लेख हुमचके एक शिलालेखमें हुआ है।

सम्बन्दरके उद्योगोंके परिणाम स्वरूप जैनधर्म हतप्रभ हुआ तो अप्परने उन्हें पल्लवदेशमें न-कहींका बना छोड़ा, यह पहले ही लिखा जाचुका है। उधर दक्षिणपथमें अद्वैतवादी शंकराचार्य और मानिक्कवचकरके प्रचारसे जैनधर्मको काफी धक्का लगा। परिणामतः दक्षिण भारतमें जैनोंकी संख्या, जैनोंकी राजकीय प्रतिष्ठा और उनका प्रभाव क्षीण होगया। इस अवस्थामें भी एक विशेषता उनमें पूर्ववत् रही और वह यह कि उनका बौद्धिक-विकाश ज्योंका त्यों रहा। उन्होंने व्याकरण, न्याय और ज्योतिष विषयोंके अनूठे ग्रंथोंको सिरजा। मलर, पेरियकुलम्, पल्लि और मदुरा नामक तालुकोंमें जो शिलालेख मिले हैं उनसे स्पष्ट है कि उतने प्रदेशमें जैनधर्मका प्रभाव तब भी अक्षुण्ण रहा था। मुनि कुरुन्दि अष्टोपवासी और उनके शिष्योंने यहां खासा धर्मप्रचार किया था। 'जीवकचिन्तामणि' नामक ग्रन्थसे प्रगट है कि आचार्य गुणसेन, नागनंदि, अरिष्टनेमि और अज्जनन्दि भी इसी समय हुए थे, जिन्होंने अपनी धर्मपरायणतासे भव्योंका उपकार किया था। श्री गुणभद्राचार्यके शिष्यमण्डल पुरुष भी इन प्रचारकोंके साथ उल्लेखनीय हैं। उन्होंने तामिलभाषामें एक छंदशास्त्र रचा था। पल्लव और पाण्ड्यदेशोंमें निर्वासित होकर अधिकांश जैनी गंगवाड़ीमें ही आ रहे। श्रवणबेलगोल उनका केन्द्र था।

उपरांतके दिगम्बर जैनाचार्य।

गंगवाड़ीमें आये हुये इन जैनियोंमें इस समय कतिपय विशेष उल्लेखनीय आचार्य हुये, जिनका प्रभाव न केवल गंगवाड़ीपर बल्कि राष्ट्रकूट-राज्य पर भी था। इनमें श्री प्रभाचन्द्राचार्य राठौर

१-गंग०, पृष्ठ १९९-२०२।

सम्राट् अमोघवर्षके गुरु श्री जिनसेनाचार्यके पहले होचुके थे। उन्होंने अपने समयके राजा और प्रजाको धर्मरत बनाकर जैनमतका उद्योत किया था। यह प्रभाचन्द्र 'परीक्षामुखके' रचयिता श्री माणिक्यनंदी आचार्यके शिष्य थे और इन्होंने 'प्रमेय-कमलमार्तण्ड' और 'न्यायकुमुद चंद्रोदय' नामक ग्रन्थोंकी रचना की थी। जैनेन्द्र व्याकरणका 'शब्दाम्भोज भास्कर' नामक महान्यास भी संभवतः आपका बनाया हुआ है।[1] निस्संदेह वह एक अत्यन्त प्रभावशाली विद्वान् थे (One of the most influential Jain techer)[2] श्री जिनसेनाचार्य और श्री गुणभद्रार्यने राष्ट्रकूट राजामें उन्हींकी तरह धर्मका उद्योत किया था। किन्तु गंगवाड़ीमें दूसरे प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री अजितसेन थे।

अजितसेनाचार्य।

यह अजितसेनाचार्य गङ्गसम्राट् मारसिंह और प्रसिद्ध गंग सेनापति चामुंडरायजीके गुरु थे। "मल्लिषेणाचार्य विरचित 'नागकुमार काव्य' और 'भैरवपद्मावतीकल्प' नामक ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंमें उनको 'भूपकिरीट' विघट्टितक्रमयुगः-'सज्जनृपमुकुटघटितचरणयुग.'-'जितकषाय'-'गुणवारिधि'-'चारुचारित्र' तपोनिधि लिखा है। श्री नेमिचन्द्राचार्यने अपने 'गोम्मटसारमें' उनकी प्रशंसा करते हुए, उन्हें आर्यसेन गणिके गुणसमूहका धारक और भुवनगुरु प्रगट किया है। और 'बाहुबलिचरित्र'के कर्त्ताने उन्हें नन्दिसंघके अन्तर्गत देशीगणका आचार्य तथा श्री सिंहनन्दि मुनिके चरणकमलका भ्रमर

१-रत्रा०, भूमिका, पृष्ठ ५८। २-गाग०, पृ० २०२।

सम्बन्दरके उद्योगोंके परिणाम स्वरूप जैनधर्म हतप्रभ हुआ तो अप्परने उन्हें पल्लवदेशमें न कहींका बना छोड़ा, यह पहले ही लिखा जाचुका है। उधर दक्षिणपथमें अद्वैतवादी शंकराचार्य और मानिकवचकारके प्रचारसे जैनधर्मको काफी धक्का लगा। परिणामतः दक्षिण भारतमें जैनोंकी संख्या जैनोंकी राजकीय प्रतिष्ठा और उनका प्रभाव क्षीण होगया। इस अवस्थामें भी एक विशेषता उनमें पूर्ववत् रही और वह यह कि उनका बौद्धिक-विकाश ज्योंका त्यों रहा। उन्होंने व्याकरण, न्याय और ज्योतिष विषयोंके अनूठे ग्रंथोंको सिरजा। मलर, पेरियकुलम् पलि और मदुरा नामक तालुकोंमें जो शिलालेख मिले हैं उनसे स्पष्ट है कि उतने प्रदेशमें जैनधर्मका प्रभाव तब भी अक्षुण्ण रहा था। मुनि कुरुनन्दि अष्टोपवासी और उनके शिष्योंने यहां खासा धर्मप्रचार किया था। 'जीवकचिन्तामणि' नामक ग्रन्थसे प्रगट है कि आचार्य गुणसेन नागनंदि, अरिष्टनेमि और अज्जनन्दि भी इसी समय हुए थे, जिन्होंने अपनी धर्मप्रभावनासे भव्योंका उपकार किया था। श्री गुणभद्राचार्यके शिष्यमण्डल पुरुष भी इन प्रचारकोंके साथ उल्लेखनीय हैं। उन्होंने तामिलभाषामें एक छंदशास्त्र रचा था। पल्लव और पाण्ड्यदेशोंमें निर्वासित होकर अधिकांश जैनी गंगवाड़ीमें ही आरहे। श्रवणबेलगोल उनका केन्द्र था।[1]

उपरांतके दिगम्बर जैनाचार्य। गंगवाड़ीमें आये हुये इन जैनियोंमें इस समय कतिपय विशेष उल्लेखनीय आचार्य हुये, जिनका प्रभाव न केवल गंगवाड़ीपर बल्कि राष्ट्रकूट-राज्य पर भी था। इनमें श्री प्रभाचन्द्राचार्य राठौर

१-गंग०, पृष्ठ १९९-२०२।

सम्राट् अमोघवर्षके गुरु श्री जिनसेनाचार्यके पहले होचुके थे। उन्होंने अपने समयके राजा और प्रजाको धर्मरत बनाकर जैनमतका उद्योत किया था। यह प्रभाचन्द्र 'परीक्षामुखके' रचयिता श्री माणिकनंदी आचार्यके शिष्य थे और इन्होंने 'प्रमेय-कमलमार्तण्ड' और 'न्यायकुमुद चंद्रोदय' नामक ग्रन्थोंकी रचना की थी। जैनेन्द्र व्याकरणका 'शब्दाम्भोज भास्कर' नामक महान्यास भी संभवतः आपका बनाया हुआ है।[1] निस्संदेह वह एक अत्यन्त प्रभावशाली विद्वान् थे (One of the most influential Jain techer)[2] श्री जिनसेनाचार्य और श्री गुणभद्रार्यने राष्ट्रकूट राज्यमें उन्हींकी तरह धर्मका उद्योत किया था। किन्तु गंगवाड़ीमें दूसरे प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री अजितसेन थे।

अजितसेनाचार्य। यह अजितसेनाचार्य गङ्गसम्राट् मारसिंह और प्रसिद्ध गंग सेनापति चामुंडरायजीके गुरु थे। "मल्लिषेणाचार्य विरचित 'नागकुमार काव्य' और 'भैरवपद्मावतीकल्प' नामक ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंमें उनको भूरिकिरीट' विघट्टितक्रमयुग –'सज्जनपद्मकूटघट्टितचरणयुग'–'जितकषाय'–'गुणवारिधि'–'चारूचारित्र' तपोनिधि लिखा है। श्री नेमिचन्द्राचार्यने अपने 'गोम्मटसारमें' उनकी प्रशंसा करते हुए, उन्हें आर्यसेन गणिके गुणसमूहका धारक और भुवनगुरु प्रगट किया है। और 'बाहुबलिचरित्र'के कर्त्ताने उन्हें नन्दिसंघके अन्तर्गत देशीगणका आचार्य तथा श्री सिंहनन्दि मुनिके चाणक्यमलका अमर

१–रआ०, भूमिका, पृष्ठ ५८। २–गगा०, पृ० २०३।

बतलाया है। इससे प्रगट है कि 'श्री अजितसेनाचार्य नंदिसंघके अन्तर्गत देशीगणके आचार्य थे और उनके गुरु सिंहनंदी तथा आर्यसेन नामके मुनिराज थे।'[१] उन्होंने 'अलङ्कार चूड़ामणि' और 'मणिप्रकाश' नामक ग्रन्थको रचा था।[२] गङ्ग राजा मारसिंहने सन् ९७३ ई०में बन्कापुरमें इन्हीं आचार्य महाराजके चरणकमलोंमें सल्लेखनाव्रत धारण करके देवगति प्राप्त की थी। सेनापति चामुंडराय और उनके पुत्र जिनदेवन उनके श्रावक-शिष्य थे। श्रवणबेलगोलमें एक जिनमन्दिर निर्माण कराकर उन्होंने अजितसेनाचार्यके प्रति उत्सर्ग किया था। अजितसेनस्वामी स्वयं राजमान्य महापुरुष थे और उनके उपरान्त हुये जैनाचार्य भी राज्याश्रमको पानेमें सफल हुये थे। परिणामतः राजा और प्रजाके सहयोग द्वारा श्री अजितसेनजीने जैनधर्मका प्रकाश खूब ही किया था। इन मुनिराजके प्रधान शिष्य 'कनकसेन' नामक मुनि थे, जो 'विगतमानमद'—'दुरितान्तक'—'वरचरित्र'—महाव्रत पालक' मुनिपुंगव लिखे गये हैं। कनकसेनके अनेक शिष्य थे, जिनमें 'भवमहोदधितारतरंडक' जितमद श्री जिनसेनजी मुख्य थे। इन जिनसेनजीके छोटे भाईका नाम नरेन्द्रसेन था, जो चारुचरित्रवृत्ति, पुण्यमूर्ति और वादियोंके समूहके जीतनेवाले कहे गये हैं।

श्री जिनसेनके शिष्य मल्लिषेण थे, जो 'उभय भाषा कवि

१-जैहि०, भा० १५ पृष्ठ २१-२४। कृष्णराव महाशयने न मालूम किस आधारसे अजितसेनजीको श्री गुणभद्राचार्यका शिष्य लिखा है! (गंग० पृ० २०३)।

2-Sanskrit Mss. in Mysore & Coorg, p. 304.

चक्रवर्ती ' कहलाते थे। यह बड़े भारी मंत्र-

मल्लिषेणाचार्य आदि। वादी थे। महापुराणकी प्रशस्तिमें इन्होंने स्वयं अपनेको ' गारुड़ मंत्रवाद वेदी ' लिखा है। ' भैरव-पद्मावती कल्प ' और ' ज्वालिनी कल्प ' नामक इनकी दोनों रचनायें मंत्रशास्त्र विषयक हैं। ' बाल गृहचिकित्सा ' नामका ग्रन्थ भी उनका रचा हुआ है। ' महापुराण ' और ' नागकुमार चरित्र ' भी उनके रचे हुए ग्रन्थ हैं।[1] इनके अतिरिक्त 'हितरूप सिद्धि' नामक ग्रन्थके कर्ता और मतिसागर मुनिके शिष्य दयापाल मुनि भी उल्लेखनीय हैं। वह वादिराज मुनिके सहधर्मी थे। वादिराज दशवीं शताब्दिके अर्द्धभागमें हुए प्रसिद्ध आचार्य थे। उन्होंने चालुक्योंकी राजधानीमें अनेक परवादियोंको परास्त किया था। वादिराजके सम सामयिक श्रीविजय नामक आचार्य थे, जिनकी विनय गंगवंशके बुटुग, मारसिंह और रक्कसगंग नामक राजाओंने की थी।[2] साराशतः गंगवाडीमें उस समय जैनधर्मके आधार-स्तम्भरूप अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुये थे, जिन्होंने अपने पवित्र उपदेश और पावन कार्योंसे लोकका महान् कल्याण किया था।

जैनाचार। दिगम्बर जैनधर्मका आदर्श सदैव उसके तीन जगत प्रसिद्ध सिद्धांतों—अहिंसा, त्याग और तपमें गर्भित रहा है। साथ ही मनुष्योंकी बुद्धि और वाणीको परिष्कृत और समुदार बनानेके लिये उसका न्यायशास्त्र स्याद्वाद सिद्धांतपर स्थिर रहा है। गंग-

---

१-जैशि० सं० १५ पृ० ९६-२४। २-गंग०, पृष्ठ २०३।

वाड़ीके दिगम्बर जैनधर्ममें उसका आदर्श और न्याय मूर्तिमान हुआ था। दि० जैन मुनियों और श्रावकोंके सत्कार्योंसे वह समुन्नत बना था। मुनियों और श्रावकोंके लिये उस समय जो नियम प्रचलित थे, उनसे उपरोक्त व्याख्याका समर्थन होता है। गंगवाड़ीमें भी साधुदशा पूर्ण आचेलक्य-दिगम्बरत्वमें गर्भित थी। इस असिधारा सम तीक्ष्ण व्रतका व्रतीजन सहर्ष अनुगमन करते थे। वह पंचमहाव्रतादिरूप मूलगुणोंका पालन करते हुये अपनेको सदा ही दण्ड, शल्य, मद और प्रमादके चुंगलोंसे बचाये रहते थे। वह निरंतर ज्ञान, ध्यान और भावनाओंके चिंतनमें समय विताते थे।[1] कर्म सिद्धांतमें उन्हें दृढ़ विश्वास था। शरीरसे ममता नहीं थी और न वह उसको साफ करनेकी चिंता रखते थे, बल्कि कोई२ आचार्य तो शरीरके प्रति अपनी इस उपेक्षावृत्तिके कारण धूलधूसरित रहते हुये 'मलधारिन्' कहलाते थे।[2] मुनि अवस्थामें वह हमेशा अपने ज्ञानको निर्मल बनाते थे और सुन्दर साहित्यिक रचनाओं द्वारा लोक कल्याणका साधन सिरजते थे। मौखिक शास्त्रार्थों और अपने सत्कार्यों द्वारा वह जैनधर्मकी प्रभावना करते थे। मौनी भट्टारकने तो धर्मरक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण भी किया था। मुनियोंके साथ गृहस्थजन भी धर्म पालनका पूर्ण ध्यान रखते थे। वे 'श्रावक' अथवा 'भव्यजन' के नामसे प्रसिद्ध थे। यद्यपि उनका जीवन इतना कठिन और त्यागमय नहीं होता था, जितना कि मुनियोंका होता

१-इका० भाग २ नं० १६१-२५८।

२-Rice, Intro. to E. C. II. P. XXXVII.

था, परन्तु उनके आदर्श और सिद्धांत वही थे—उनमें कोई अन्तर न था, अन्तर यदि था तो केवल व्यवहारकी मात्राका। इसीलिये श्रावकके लिये जो व्रत है वह अणुव्रत कहलाते हैं। गंगराज्यके श्रावक उनका पालन करते थे। शिलालेखोंसे प्रगट है कि उस समय 'प्रतिमाओं'का प्रचलन विशेष था। प्रत्येक श्रावक प्रतिमाधारी होता था और अंतमें सल्लेखना व्रत करता था। सल्लेखना व्रतका पालन तो उससमय मुनि आर्यिका श्रावक-श्राविका सब हीने किया था।[3]

शिक्षा।

गङ्ग-राज्यके अन्तर्गत जनसाधारणमें शिक्षाका प्रचार भी संतोषजनक था, यद्यपि शिक्षाका कोई एक नियमित क्रम नहीं था; परन्तु शिक्षाकी प्रणाली कठिन नियंत्रण और अनुशीलनपर अवलंबित थी। लोग इहलोक और परलोकको सफल बनानेके लिये ज्ञानोपार्जन करना आवश्यक समझते थे। बहुतसे लोग अपनी ज्ञान-पिपासाको तृप्त करनेके लिये शिक्षा ग्रहण करते थे। साधारणतः प्रत्येक ग्राममें एक गृहस्थ उपाध्याय रहता था, जिसके घरमें रहकर विद्यार्थीगण शिक्षा लेते थे। प्रारंभिक शिक्षा इन उपाध्यायों द्वारा प्रदान कीजाती थी। उच्चशिक्षाके लिये केन्द्रीय स्थानोंमें 'विद्यापीठ' 'मठ' 'अग्रहार' और 'घटिक' नामक उच्च शिक्षालय थे। इन शिक्षालयोंमें उच्चकोटिकी धार्मिक, दार्शनिक और लौकिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। इसके अतिरिक्त देशमें विद्वत्सम्मेलन भी हुआ करते थे, जिनके द्वारा सांस्कृतिक ज्ञानकी वृद्धि हुआ करती

३—जैशिसं० देखो।

थी। शिक्षाका उद्देश्य विद्यार्थीको एक धर्मात्मा और सेवाभावका धारी नागरिक बनाना था। उसमें शारीरिक और बौद्धिक विकासके साथ२ आत्मोन्नतिका भी ध्यान रक्खा जाता था। साधारणतः गङ्ग-राज्यमें शिक्षाको सर्वांगी बनानेका ध्यान रक्खा गया था। नीतिमार्गके ज्येष्ठपुत्र नरसिंहदेवके विषयमें कहा गया [1] कि वह राज-नीति, हस्तिविद्या, धनुर्विद्या, व्याकरण, शास्त्र, आयुर्वेद, भारतशास्त्र, काव्य, इतिहास, नृत्यकला, सगीत और वादित्रकलामें निपुण थे। संगीत और नृत्यकलायें प्रायः प्रत्येक विद्यार्थी सीखता था। राज कुमारियां भी इन कलाओंमें दक्ष हुआ करतीं थीं और राजदरबारोंमें उनका प्रदर्शन करनेमें वे लज्जाका अनुभव नहीं करतीं थीं। शिल्प-विद्याकी शिक्षा सन्तान क्रमसे कुलमें चली आती थी। शिल्पियोंकी 'वीरपञ्चल' संस्था खूब ही संगठित और समुन्नत थी, जिनमें सुनार (अक्कसलिग), सिक्के ढालनेवाले (कम्मद अचारीगल्) लुहार (कम्मार), बढ़ई और मैमार (राज) सम्मिलित थे। तक्षण और स्थापत्यकलाकी उन्नति पञ्चल लोगों द्वारा खूब हुई थी। यह पञ्चल लोग अपनेको विश्वकर्मा ब्राह्मण कहते थे और इनके नामके साथ 'अचारी' पद प्रयुक्त होता था। गङ्गोंके किन्हीं शासन लेखोंमें इन्हें 'ओजा' व 'ओज्झा' और 'श्रीमत्' भी लिखा है। प्रसिद्ध गोम्मट मूर्तिके एक शिल्पीका नाम विदिगोजा था और राजमल्ल प्रथम (८२८ ई०) के समयमें मधुरोवज्झा प्रसिद्ध शिल्पाचार्य थे। समाजमें इन शिल्पियोंका सम्मान विशेष था।

१—गंग० पृष्ठ २६३-२६८।

अग्रहार ।

अग्रहारों, घटिकों और मठोंमें उच्च कोटिकी लौकिक और धार्मिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। अग्रहार घटिक संस्थायें प्रायः ब्राह्मण आचार्यों द्वारा चलित होतीं थीं और इनका अन्तरप्रान्तीय सम्बंध था। कांचीपुरकी घटिकामें समन्तभद्र, पूज्यपाद, आदि जैनाचार्योंने जाकर ब्राह्मण विद्वानोंसे वाद किये थे। इन वादोंमें विजयी होनेवालेकी खूब ही प्रसिद्धि होती थी। यही कारण था कि दार्शनिक और तात्विक सिद्धान्तोंका सूक्ष्म अध्ययन तीक्ष्ण बुद्धिधारी छात्रगण विशेष रीतिसे किया करते थे। श्री अकलङ्क-स्वामीकी कथासे स्पष्ट है कि उन्होंने प्राणोंको संकटमें डालकर उच्च कोटिकी शिक्षा प्राप्त की थी। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि एक बौद्ध-मठमें संस्थायें साम्प्रदायिक थीं, परन्तु इनमें शिक्षा सार्वदेशिक रूपमें दी जाती थी।

जैन मठ ।

उच्च शिक्षाके लिये गंगवाड़ीके जैनियोंमें भी अपने मठ और चैत्यालय थे, जिनके द्वारा जैनोंमें धर्मज्ञानका प्रचार भी किया जाता था। ईस्वी सातवीं शताब्दिमें पाटलिका (दक्षिण अर्काट जिला) का जैनमठ उल्लेखनीय समुन्नतरूपमें था। इसके अतिरिक्त पेरूर, मण्णे और तलकाड आदि स्थानोंके चैत्यालय भी उल्लेख योग्य हैं। इन संस्थाओं द्वारा जनताके मन्तव्योंको परिष्कृत किये जानेके साथ ही उसमें शिक्षा और साक्षरताका प्रचार किया जाता था। जैन संघका उद्देश्य वैयक्तिक चारित्रको उन्नत बनाना था और इस उद्देश्य

पूर्तिके लिये मुख्यतः अनुशीलन, दान और अपरिग्रह भावको प्रधानता देना आवश्यक समझा जाता था। इन संस्थाओंमें उपाध्याय महाराज ऐसी ही मार्मिक शिक्षा प्रदान करते थे जो मनुष्यको एक आदर्श जैनी बनाती थी। इन शिक्षालयोंमें मौखिक रूपसे शिक्षा दी जाती थी शिक्षाका माध्यम प्रचलित लोकभाषा—तामिल अथवा कनड़ी था। गुरु उपदेशके स्थान पर अपने उदाहरण द्वारा शिक्षाके उद्देश्यको व्यवहारिक सफलता दिखानेके लिये जोर देते थे। गुरुका निर्मल और विशाल उदाहरण निस्संदेह छात्रपर स्थायी प्रभाव डालता था इसलिये इन मठोंसे छात्रगण न केवल शिक्षित होकर ही निकलते थे बल्कि उन्हें देश, जाति और धर्मके प्रति अपने कर्तव्यका भी भान हो जाता था।

साहित्य

गङ्ग राज्यकालमें संस्कृत और प्राकृत भाषाओंके साहित्य विशेष उन्नतिको प्राप्त हुये थे। अशोकके शासन लेखों और सातवाहन एवं कदम्ब राजाओंके सिक्कोंपर अंकित लेखोंसे प्रगट है कि उस समय प्राकृत भाषाका बहु प्रचार था। महावल्लीका शिलालेख एवं शिवस्कन्दवर्मन्‌का दानपत्र भी इसी मतका समर्थन करते है। पहली शताब्दिसे ग्यारहवीं शताब्दि तक जैनों और ब्राह्मणों—दोनोंने प्राकृत भाषाको साहित्य—रचनामें प्रयुक्त किया था। परन्तु साथ ही यह स्पष्ट है कि जैनाचार्योंने संस्कृत भाषामें भी अपूर्व साहित्य सिरजा था। समन्तभद्राचार्य, पूज्यपादस्वामी प्रभृति आचा-

१—गंग०, पृ० २६०—२६६।

योंकी संस्कृत-रचनायें अमूल्य थीं । ७ वीं-८वीं शताब्दियोंमें जब जैनी एक बड़ी संख्यामें आकर गंगवाड़ीमें बस गये, तब वहां संस्कृत जैन साहित्यकी पवित्र जाह्नवी ही वह निकली । अष्टशती, आप्तमीमांसा, पद्मपुराण, उत्तरपुराण, कल्याणकारक आदि ग्रंथ इसी समयकी रचनायें हैं। सारांशतः गंग वंशमें जैनियों द्वारा साहित्यकी विशेष उन्नति हुई थी ।[1]

कनड़ी साहित्य । गंगवाड़ीमें कनड़ी भाषाका प्रचार अधिक था । इस भाषाका साहित्य भी तामिल-साहित्य इतना प्राचीन था । ९ वीं-१० वीं शताब्दिके साहित्यक उल्लेखों एवं श्री पुरुष आदि राजाओंके शिला-लेखोंसे स्पष्ट है कि 'पूर्वद हलेकन्नड' अर्थात् प्राचीन कन्नड भाषा, जो मूलतः बनवासीकी भाषा थी, उसका प्रचार कन्नड साहित्यक कवियोंके अस्तित्वसे पहलेका था । किन्तु सातवीं आठवीं शताब्दिमें आकर उसका स्थान 'हले-कन्नड़' अर्थात् नूतन-कन्नड़ी-भाषाने ले लिया और १९ वीं शताब्दि तक उसका प्रचलन खूब रहा । पम्प कविने कनड़ी भाषाके प्रसिद्ध कवि रूपमें समन्तभद्र कवि-परमेष्ठी और पूज्यपाद प्रभृतिका उल्लेख किया है । यह कनड़ीके प्राचीन कवि थे । समन्तभद्रस्वामीने 'भाषामंजरी'–'चिंतामणि–टिप्पणी' आदि ग्रन्थ रचे थे । श्री वर्द्धदेव अथवा तुम्बुलराचार्यने प्रसिद्ध ग्रंथ 'चूड़ामणि' की रचना की थी । भट्टाकलंकने अपने 'कर्णाटक शब्दानुशासन' में इस ग्रंथकी खूब प्रशंसा लिखी

1-गंग०, पृ० २७०-२७२ ।

और इसे कनड़ीके सर्वश्रेष्ठ ग्रंथोंमें एक बतलाया है। इन्हीं आचार्यके रचे हुए अन्य ग्रंथ 'शब्दागम'-'युक्त्यागम'-'परमागम'-'छन्दशास्त्र'-'नाटक' आदि विषयोंपर भी थे। पूर्व-कवियोंमें विशेष उल्लेखनीय श्रीविजय, कविश्वर, पंडित, चंद्र' लोकपाल आदि थे। ९वीं और १० वीं शताब्दियोंके मध्यवर्ती-कालमें गंगवाड़ी ही कनड़ी साहित्यकी लीलाभूमि होरहा था। उस समय किवोलल कोर पुलिगेरे और ओमकुण्ड भी कनड़ी साहित्यके केंद्र थे। नागवर्म, पम्प, पोन्न, असग, चामुंडराय रन्न, प्रभृति महाकवि 'उभय-भाषा-कवि-चक्रवर्ती' थे। अर्थात् उन्होंने संस्कृत, प्राकृत और कन्नड़ी दोनों प्रकारकी भाषाओंमें श्रेष्ठ रचनायें रचीं थीं।

इस कालके सर्व प्राचीन कवि 'हरिवंश'' आदि ग्रन्थोंके रचयिता गुणवर्म थे जो गंग राजा एरेयप्प (८८६-९१३ ई०) के समकालीन थे। पोन्न और केसिराजने असग कविका उल्लेख किया है; जो संभवत: 'वर्द्धमानस्वमी काव्य' के रचयिता थे। किंतु इस समयके कवि-समुदायमें सर्व प्रमुख कवि पम्प थे। जिन्हें 'कविता गुणार्णव'-'गुरुहम्प'-पूर्णकवि'-'सुजनोत्तमस'-हंसराज' कहा गया है।

महाकवि पम्प।

महाकवि पम्पका जन्म सन् ९०२ में वेङ्गिके एक प्रसिद्ध ब्राह्मण वंशमें हुआ था। वेङ्गि प्रदेशके विक्रमपुर नामक अग्रहारके निवासी अभिराम देवराय नामक महानुभाव उनके पिता थे। जैन धर्मकी शिक्षासे प्रभावित होकर उन्होंने श्रावकके व्रत ग्रहण किये

थे। महाकवि पम्प इन्हींके पुत्र थे और वह जन्मसे ही एक श्रद्धालु जैनी थे। उनके संरक्षक अरिकेशरी नामक एक चालुक्य-नृप थे, जो जोल नामक प्रदेशपर शासन करते थे। कवि पम्प अरिकेशरीके राजदरबारमें न केवल 'राजकवि' ही थे, बल्कि मंत्री अथवा सेनापति भी थे। उनकी राजधानी पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) में रहकर उन्होंने ग्रन्थ रचना की थी। सो भी महाकविने साहित्यक रचनायें यशकी आकांक्षा अथवा किसी प्रकारके अन्य लोभसे प्रेरित होकर नहीं की थीं। उन्होंने लोककल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर ही अमूल्य ग्रंथ—रत्न सिरजे थे। उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। 'आदिपुराण' के समान महान् काव्यको उन्होंने तीन महीने जैसे अल्प समयमें रच दिया था और 'विक्रमार्जुनविजय' अर्थात् 'पम्प भारत'को रचनेमें उन्हें केवल छै महीने ही लगे थे। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'लघुपुराण'-'पार्श्वनाथपुराण' और 'परमार्ग' नामक ग्रंथोंकी भी रचना की थी। पूर्वोक्त दो ग्रंथोंके रचनेसे ही उनका यश दिगन्तव्यापी हो गया था। अरिकेसरीने कविकी इन रचनाओंसे प्रसन्न होकर एक ग्राम भेंट किया था।[1]

महाकवि पोन्न। इस समय अर्थात् दशवीं शताब्दिके जो तीन कवि कन्नड़ साहित्यके 'तीन—रत्न' कहे जाते हैं, उनमें महाकवि पम्पके अतिरिक्त महाकवि पोन्न और रन्न (रत्न) की भी गणना है। कवि पोन्न महाकवि पम्पके समकालीन थे। पम्पके पिताकी तरह वह भी

१—गंग० पृ० २०७ व कर्णा० पृ० १०।

वेङ्गी देशके ही निवासी थे। उपरांत जैन धर्म ग्रहण करने पर वह कर्णाटक देशमें आरहे। उन्होंने संस्कृत और कनड़ी दोनों भाषाओंमें साहित्य-रचना की थी। साहित्यमें वह 'होन्न'-पोन्निग'-शांतिवर्म' सवन आदि नामोंसे उल्लिखित हुए हैं। पोन्नकी उल्लेखनीय रचना 'शांतिपुराण' था, जिसे उन्होंने स्वयं 'पूर्ण-चूड़ामणि' ग्रन्थ कहकर पुकारा है। कनड और संस्कृत साहित्य एवं 'अक्कारशाज्य' (अक्षर राज्य)में पोन्न सर्वश्रेष्ठ कवि थे, इसीलिये राष्ट्रकूट राजा कृष्णसे उन्हें 'उभय-कवि-चक्रवर्ती'की उपाधि प्राप्त हुई थी। 'जिनाक्षरमाले' नामक ग्रन्थ भी कवि पोन्नकी रचना है। उनकी अन्य रचनायें अनुपलब्ध हैं।[1]

महाकवि रत्न। तीन 'रत्नों' में अन्तिम महाकवि रत्न थे, जिन्हें 'कविरत्न' अभिनवकवि चक्रवर्ती' इत्यादि उपनामोंसे ग्रंथोंमें स्मरण किया गया है। कनड़-कवियोंमें रत्न सर्वश्रेष्ठ कवि गिने जाते हैं। उन्होंने अपने जन्मसे वैश्य जातिके बलेगार कुलको समलंकृत किया था। उनके पितृगण चूड़ी बेचनेका रोजगार किया करते थे, पर बेचारोंकी आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी। उनके पिताका नाम जिनवल्लभ अथवा जनवल्लभेन्द्र था और उनकी माता अबलब्बे नामक थीं। सेठ जिनवल्लभ जिससमय अपने निवास-स्थान मुदुवलल (मुछोल) में थे, जो बेलिगेर ५०० प्रदेशके अन्तर्गत जम्बुखण्डी ७० प्रांतका एक ग्राम था, उससमय सन् ९४० ई० में कवि रत्नका

१-मंग पृ० २७८ व कहि० पृ० ३१।

जन्म हुआ था। जन्मसे ही वह दैवी प्रतिभाको प्रकट करते थे। गंग-सेनापति चवुंडरायका नाम सुनकर युवक रन्न उनकी शरणमें पहुंचे और उनके आश्रयमें रहकर वह संस्कृत-प्राकृत और कनड़ भाषाओंके प्रकाण्ड पण्डित होगये। संस्कृतके 'जैनेन्द्र' व्याकरण और कनड़ी 'शब्दानुशासन'में वह निष्णात थे। साथ ही कनड़ीमें कविता करनेकी दैवी शक्तिका भी उनमें अद्भुत प्रदर्शन हुआ था। उन्होंने सबसे पहिले अपनी कवित्व शक्तिका चमत्कार जिनेन्द्र भगवानका चरित्र रचनेमें प्रगट किया। उन्होंने सर्व प्रथम 'अजित-पुराण' नामक ग्रंथ रचा। श्री अजितसेनाचार्य उनके गुरु थे। जैनसिद्धान्तका मर्म कविने उनके निकटसे ही प्राप्त किया था। उपरान्त उन्होंने अपना दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गदायुद्ध' नामक रचा, जिसमें उन्होंने भीमके पौरुषका बखान दुर्योधनसे जूझते हुए खूब ही किया। इस ग्रंथको उन्होंने अपने आश्रयदाता आहवमल्ल नामक राजाको लक्ष्यकरके लिखा है। सम्राट् तैल द्वितीय एवं अन्य सामंत और माडलिक राजाओंसे कवि रत्नने सम्मान प्राप्त किया था। तैलप उनकी रचनाओंसे प्रसन्न हुये थे और उन्होंने कविको 'कवि चक्रवर्ती'की उपाधिसे विभूषित करनेके साथ ही एक गांव, एक हाथी, एक पालकी और चौरी आदि वस्तुयें भेंट की थीं। कवि पोन्नके आश्रयदाता कतिपय सेनापतिकी पुत्री अतिमब्बेके आग्रहसे कवि रन्नने अपना 'अजितपुराण' लिखा था और उसमें इस धर्मात्मा महिलाकी प्रशंसा लिखते हुये उन्हें दानचिंतामणि' बताया है।

उनके साथ इस ग्रन्थमें बुटुग, मारसिंह, चठवकेतन वंशके शंकरगंड आदि राजाओंका भी उल्लेख हुआ है।[1]

अन्य कविगण। महाकवि रन्नके आश्रयदाता गंग-सेनापति चावुंडराय भी स्वयं एक कवि थे, और उन्होंने 'चावुंडराय पुराण'की रचना की थी, यह पहले लिखा जा चुका है। कवि रन्नके सहपाठी श्री नेमिचन्द्र कवि थे, जिन्होंने 'कविराज-कुंजर' और 'लीलावती' नामक ग्रंथ रचे थे। 'लीलावती' शृङ्गारसका एक सुन्दर काव्य है। यह महानुभाव तैल-नृपके गुरु थे। सन् ९८४ के लगभग कवि नागवर्मने 'छन्दोम्बुधि' ग्रंथकी रचना की थी; जो आज भी कनड़ छन्दशास्त्रपर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। कविने यह ग्रन्थ अपनी पत्नीको लक्ष्य करके लिखा है। इन्होंने संस्कृत भाषाके कवि बाण कृत 'कादम्बरी' का अनुवाद भी कनड़ी भाषामें किया था। नागवर्मके पूर्वज भी वेङ्गी देशके निवासी थे। किंतु स्वयं उनके विषयमें कहा गया है कि वह सयवदि नामक ग्राममें रहते थे, जो किसुकाडु नाडमें अवस्थित थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि वह नृप रक्कस गंगके आधीन साहित्यरचना करते थे। चावुंडरायने उनको भी आश्रय दिया था। अजितसेनाचार्य उनके गुरु थे। इस प्रकार इन श्रेष्ठ कवियों द्वारा तत्कालीन कनड़ साहित्य खूब समुन्नत हुआ था।[2]

१-गङ्ग०, पृष्ठ २७८-२७९ व अनेकांत भाग १ पृ० ४४.
२-कर्णा० पृ० ३३ व गङ्ग० पृ० २७९.

गंगवाड़ीमें साधारण जनताका आचार-विचार और रहन सहन प्रशंसनीय था। 'कविराजमार्ग' नामक ग्रंथके

जनताका आचार विचार।

देखनेसे एवं महाकवि पम्पने जो यह लिखा है कि उनकी रचनाओंको सबही प्रकारके मनुष्य पढ़ा करते थे, यह स्पष्ट है कि गंगवाड़ीके निवासी स्त्री-पुरुष विद्या और ज्ञानके प्रेमी एवं उनका आदर सत्कार करनेवाले थे। जैनाचार्योंने उन्हें ठीक ही 'भव्य-जन' कहा है। वे वीर-रसपूर्ण काव्योंको कण्ठस्थ करते थे। कथाओं और पुराणोंसे लेकर सुंदर और शिक्षाप्रद अवतरणोंका खास अवसरोंपर अभिनय किया करते थे। अन्य समयपर भाषण सुनने और विद्वानोंकी संसर्गतिसे लाभ उठाते थे सांस्कृतिक ज्ञान उनका विशाल था। वह देशाटन भी खूब किया करते थे, जिसके कारण मानव जीवन सम्बन्धी उनका अनुभव खूब बढ़ा-चढ़ा था। यद्यपि उनका गार्हस्थिक जीवन समृद्धिशाली था; परन्तु फिर भी वे परिग्रहका परिमाण करके सीधा सादा जीवन बिताते थे। वे बड़े ही मिष्ट सम्भाषी, सत्यानुयायी संयमी, समुदार और प्रेम एवं लक्ष्मीके पुजारी थे। जैनधर्मकी अहिंसामय शिक्षाका उनके हृदयोंपर विशेष प्रभाव पड़ा हुआ था, जिसके कारण पशुओंपर लोग दया करते थे। उन्हें देवताओंके नामपर यज्ञादिमें भी नहीं होमते थे। खान-पान और मौज-शौकके लिये पशुओंको किसी तरहका कष्ट नहीं दिया जाताथा।

सबही लोग सादा-सात्विक निरामिष भोजन किया करते थे। कतिपय नीच जातियोंको छोड़कर शेष भोजनमें लड्डू, सीकरण,

होलिगे उण्डे इत्यादि मिठाइयोंका भी उल्लेख मिलता है। मद्यादि मादक वस्तुओंको वे छूते भी नहीं थे-केवल पान-सुपारी खानेका रिवाज था। धनीवर्ग इसप्रकारकी आनंदरेलिया और मनोविनोद किया करते थे कि जिसमें किसी प्रकारकी हिंसा न हो। अपने वस्त्राभूषणोंमें भी वे लोग सादगीका ध्यान रखते थे। स्त्रिया लम्बी और बड़ी साड़िया तथा रङ्ग-बिरंगी चोलिया पहना करतीं थीं। नृतकिया अवश्य पैजामा पहनतीं थीं, जिससे कि उन्हें नाचनेमें सुविधा रहती थी। सबही स्त्रिया प्राय: मणिमुक्ताजड़ित करधनी हार, बालिया, गलेबन्द आदि आभूषण पहनतीं थीं। वे शरीरपर जाफरानका लेप भी सुगंधिके लिये करतीं थीं। शिरके बालोंमें वे फूलोंकी माला और गुलदस्ते भी लगातीं थीं।[1]

महिलायें। जैनधर्मकी शिक्षाका बाहुल्य जनतामें शील और विनयगुणोंको बढ़ानेमें कार्यकारी ही हुआ था। यही कारण है कि गङ्गवाड़ीकी तत्कालीन स्त्रियां आदर्श रमणियां थीं। उनमें शिक्षाका काफी प्रचार था। वे गणित, व्याकरण, छंदशास्त्र और ललित कलाओंको सीखतीं थीं। शिलालेखोंसे प्रगट है कि राजकुमारियां परम विदुषी और कविजनोंकी आश्रयदात्री हुआ करतीं थीं। उनमें संगीत, नृत्य और वादित्रकलाओंका प्रचार प्रचुर मात्रामें था। वे आलेख्य और चित्र-कलाओंमें भी निपुण हुआ करतीं थीं। निस्सन्देह राजकुमारियोंके लिये इन कलाओंमें दक्ष होना आवश्यक समझा जाता था। नृत्य-

---

१—गंग० पृ० २८०-२९०।

कलाके साथ संगीत और वादित्रकलाओंका सीखना आवश्यकीय था। उस समय 'समुद्रघोष', 'पटु-मुख वादित्र', 'तंत्रि', 'ताल', 'नकार'. 'बिजे', 'झांझ', 'तूर्य', 'वीणा', आदि कई प्रकारके वादित्रका प्रचलन था। नृत्यकला भी 'भारती', 'सात्वकि', 'कैसिके', 'अरभटे' आदि कई प्रकारकी प्रचलित थी। उच्च घरोंकी स्त्रियां प्रायः इन ललित कलाओंमें निष्णात थीं। उनमें उच्च कोटिका सांस्कृतिक सौन्दर्य विद्यमान था। जैनधर्मने उनके हृदयकी दैवी कोमलता और उदारताको पूर्ण विकसित कर दिया था। वे खूब ही दान-पुण्य भी किया करतीं थीं और धर्म-कार्योंमें भाग लेतीं थीं। राज्यकी ओरसे विदुषी महिलाओंका सम्मान 'विभूतिपट्ट' प्रदान करके किया जाता था। अपनी धार्मिकतासे प्रभावित होकर बहु-तसी स्त्रियां गृह त्यागकर आत्मकल्याणके पथपर आरूढ़ होकर स्वपर कल्याणकर्त्री होतीं थीं। समाजमें उनका विशेष सम्मान था। सल्लेखना व्रत धारण करनेवाली अनेक विदुषी महिलाओंका उल्लेख श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंमें हुआ है।[1]

सामाजिक व्यवहार। उस समय गङ्गवाड़ीके भव्यजनोंका सामाजिक व्यवहार यद्यपि अधिकांश रूपमें विवेकको लिये हुये था; परन्तु फिर भी परम्परागत रूढ़ियोंके मोहसे वे सर्वथा मुक्त नहीं थे। उनमें बहु विवाह करनेकी पुरातन प्रथा प्रचलित थी—पुरुष चाहता था उतने विवाह कर लेता था। इसपर भी विवाह एक धार्मिक क्रिया समझी जाती

१-गङ्ग०, २८८-२९०।

थी। धर्मविवाहके अतिरिक्त स्वयम्वर रीतिसे भी विवाह होते थे। चन्द्रलेखाने स्वयंवरमें ही विक्रमदेवको वरा था और पुन्नाट राजकुमारीने स्वयम्वर सभाके मध्य ही अविनीतके गलेमें वरमाला डाली थी। उस समय लोगोंमें उदारताके भाव जागृत होगये थे—साम्प्रदायिक संकीर्णता नष्ट होगई थी। विदेशी और मूल भील आदि जातियोंके लोग भी शुद्ध करके आर्य संघमें सम्मिलित कर लिये गये थे। जैनाचार्योंने भार, कुरुम्ब आदि दक्षिणके असभ्य मूल अधिवासियोंको जैनधर्ममें दीक्षित किया था।

इन नवदीक्षितोंको उनकी आजीविकाके अनुसार ही समाजमें स्थान मिला था। कुरुम्बजन शासनाधिकारी हुये थे, इसलिये वे क्षत्रियवर्णमें परिणीत किये गये थे। साथ ही अनेक नये मतोंका जन्म तथा उत्तर और दक्षिणका सम्बन्ध घनिष्ट बनानेका उद्योग नूतन समाज और जातियोंको जन्म देनेमें एक कारण था। फिर भी इनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध होते थे। यहां तक कि वैदिक धर्मानुयायी ब्राह्मणोंके साथ भी कभी कभी जैनियोंके विवाह सम्बन्ध होते थे। विवाह संस्कारमें अनेक रीतियां बरती जाती थीं, परन्तु दूल्हा दुल्हनका हाथ मिला देना मुख्य था। पुरोहित दूल्हाके हाथमें दुलहनका हाथ धर कर उनपर कलशसे धारा छोड़ता था। इसीसमय दुलहन सात पग चलती थी और पुरोहित शास्त्रोक्त पाठ करता था। इतना होनेपर विवाह अविच्छेद रूपमें सम्पन्न हुआ समझा जाता था। दम्पतिको इस समय उनके रिश्तेदार तरह-तरहकी वस्तुयें और धन भेंट करते थे। और खूब ही गाना-बजाना होता था।

ब्राह्मणोंको दान-दक्षिणा दीजाती और साधर्मियों व अन्य प्रियजनोंको भोजन कराया जाता था। यह सब कुछ चार दिन तक होता रहता था। चौथे दिन नवदम्पतिको वस्त्राभूषणसे सुसज्जित करके हाथीपर बैठाकर नगरके बीच धूमधामसे घुमाया जाता था। इस अवसरपर रोशनी भी की जाती थी। किन्तु उससमय बहुविवाह प्रथाके साथ ही बाल्यविवाह और अनिवार्य वैधव्य सदृश कुप्रथायें भी प्रचलित थीं; जिनके कारण उस समयकी स्त्रियोंके जीवन आजकलकी महिलाओंके समान ही कष्टसाध्य होरहे थे। किंतु फिर भी उस समयका गार्हस्थिक जीवन सुखमय था। विधवायें अपने जीवनको स्वपर-कल्याणक मार्गमें उत्सर्ग कर देती थीं। महान् आचार्यों और साध्वियोंकी सत्संगतिमें उनके जीवन सफल होजाते थे। साराशतः गङ्गवाड़ीका सामाजिक जीवन उदार और समृद्धिशाली था।[१]

शिल्पकला। उस समय गङ्गवाड़ीमें शिल्प और स्थापत्य कलाकी भी विशेष उन्नति हुई थी। समूचे देशमें दर्शनीय भव्य मंदिर, दिव्य मूर्तियां, सुंदर स्तम्भ आदि मूल्यमई विशाल कीर्तियां स्थापित की गई थीं। ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीनोंने ही द्राविड, चौलुक्य, अथवा होयसल रीतिके मंदिरादि निर्माण कराये थे। परन्तु गङ्गवाड़ीमें जैनोंका अपना निराला ही आकार-प्रकार (style) मंदिरादि निर्माणका रहा था। उसका सादृश्य बौद्ध-शिल्पसे किञ्चित् अवश्य था। खासकर कतिपय जैन मूर्तियां ठीक वैसे ही

१-गङ्ग० पृ० २९४-२९५.

अर्द्ध-पद्मासन मुद्रामें मिलती थीं, जैसे कि बौद्ध मूर्तियां होती थीं। किन्तु पद्मासन और कायोत्सर्ग मुद्राकी जैन मूर्तियां बिल्कुल निराली थीं और उनका नग्नरूप अपना अनूठापन रखता था।

जैनियोंके अपने स्तूप मौर्यसम्राट् अशोक एवं उससे भी पहलेसे थे। उनके निकट स्तूप धार्मिक चिन्ह मात्र नहीं थे, बल्कि वह सिद्धपरमेष्ठी भगवानके प्रतीक रूप पूज्य वस्तु थे। तीर्थङ्करकी समवशरण रचनामें उनका खास स्थान था और उनपर सिद्धभगवानकी प्रतिमायें बनी होती थीं। इसीलिये स्तूप जैनियोंकी पूजाकी वस्तु रहे हैं। स्तूपोंके अतिरिक्त जैनियोंके अपने मंदिर भी थे। यह मंदिर पहले पहले मैसूरमें 'नगर' अथवा आर्यावर्त प्रणालीके बनाये गये थे। इनका आकार चौकोन होता था और ऊपर शिखिर बनी होती थी। ६ठी-७वीं शताब्दियोंमें इसी ढङ्गके मंदिर बनाये गये थे। उपरांत 'बेसर' प्रणालीके मंदिर बनाये गये थे। यह मंदिर समकोण आयताकार (rectangular होते थे और इनकी शिखिर सीढ़ी दरसीढ़ी कम होती जाती थी जिसके अंतमें एक अर्द्धगोलाकार गुम्बज बना होता था। सातवीं शताब्दिके प्रारम्भमें ऐसे ढंगके मंदिर बादामी, ऐहोले, मामल्लपुरम्, कांची आदि स्थानों पर बनाये गये थे। कहा जाता है कि जैनियोंकी 'समवशरण' रचना प्रणाली ही 'बेसर' प्रणालीका मूलाधार है। 'समवशरण' गोल बनाया जाता था, जिसमें तीन रंगभूमियां (Battlements) होती थीं, जिनमें द्वारपालों, बारह सभाओंके अतिरिक्त बीचमें धर्मचक्र, अशोकवृक्ष और जिनेन्द्र मूर्तियों सहित सिंहासन होता था।

इसके अतिरिक्त जैनियोंने 'चतुर्मुख' अथवा 'चौमुखा' मंदिर भी बनाये थे जो एक तरहके मण्डप जैसे ही थे। उनमें बीचमें एक बड़ा कमरा (Hall) होता था जिसमें चारों ओर बड़े२ दरवाजे व बाहर बाड़ा तथा उसारा (Portico) होते थे। छत सपाट पाषाणसे पट दी जाती थी और वह बड़े२ स्तंभों पर टिकी रहती थी। यह स्तम्भ तक्षणकलाके अद्भुत नमूने होते थे। जैनियोंके कुछ मंदिर तीन कोठरियों (Threecelled temples) वाले भी थे। जिनमें तीर्थंकरकी मूर्तियां यक्ष, यक्षिणी सहित विराजमान होती थीं। चौलुक्य, कादम्ब और होयसल राजाओंने इस ही तरहके मंदिर बनाये थे क्योंकि आखिर वह जैनी ही थे। बर्जेस और फर्गुसन सा०का कहना है कि ७वीं-८वीं शताब्दियोंमें दक्षिण भारतमें जो स्थापत्यकलाका जैन आकार प्रकार प्रचलित था वह उत्तरमें इलोरातक पहुंचा था और साथमें द्राविड-चिन्होंको भी लेगया था।

जैन मंदिर। शिलालेखोंसे यह भी पता चलता है कि गंगवाड़ी और बनवासीमें एक समय लकड़ीके बने हुए जिनालय और चैत्यालय प्रचलित थे। गङ्ग-वंशके संस्थापक माधवने मंडलि नामक पर्वतपर एक जिनालय लकड़ीका बनवाया था। जिसकी रक्षा उनके उत्तराधिकारियोंने विशेष रूपमें की थी। अविनीत और दुर्विनीतकी प्रशंसा शिलालेखोंमें की गई है कि वे जिनालयों और चैत्यालयोंके संरक्षक थे। मारसिंहके सेनापति श्री विजयने गङ्ग राजधानी मन्नेमें

१-गग० पृ० २२२-२२६ ।

एक विशाल और भव्य जिनालय निर्मापित कराया था। श्री-पुरुषने गुडलूरमें श्री कंदच्छी द्वारा निर्मापित जिनालयको दान दिया था। इन जिनालयोंकी अपनी विशेषतायें इस प्रकार थीं। इनके गर्भगृहमें प्रकाश बीचके बड़े कमरोंमेंसे आता था। तीर्थङ्करोंकी प्रतिमायें प्रायः सदा ही चौकोन कोठरियोंमें विराजमान की जाती थीं। वेदिकाके द्वारपर भी जिनमूर्ति होती थी, परन्तु जिनालयके बाहरी द्वार (Outer door) पर गजलक्ष्मीकी ही मूर्ति होती थी। मंदिरकी दीवालों और छतोंपर सुन्दर तक्षण (नकाशी) का काम खुदा होता था। उनमें मुख्यतः जिनेन्द्रकी जीवन घटनायें उत्कीर्ण की जाती थीं। बड़े मंदिरोंका बाहरी परकोटा भी होता था, जिसमें छोटी छोटी कोठरिया जिनमूर्तिया विराजमान करनेके लिए बनी होती थीं। कोई कोई मंदिर दोमंजिल भी होते थे। वरंडा (Verandah) जैन मंदिरोंकी अपनी खास चीज थी। जैन मंदिरोंके द्वार चारों दिशाओंको मुख किये हुये बनाये जाते थे। हिन्दुओंके समान जैनी दक्षिणकी ओर मंदिरका द्वार रखना बुरा नहीं मानते थे। पल्लवोंके प्राधान्यकालमें जैनोंके लकड़ीके बने हुये मंदिर पाषाणके बना दिये गये थे।[1]

उपरांत बनेहुए मन्दिर।

किन्तु गंग राजाओंने उपरात जो मंदिर बनवाये वह द्राविड़ प्रणालीके आधारसे बनवाये। इनमें भी जैन मन्दिरोंके प्रभावका प्राबल्य था; क्योंकि गङ्ग राजाओंका राजधर्म जैनमत था। विद्वानोंका कहना है कि जैनमन्दिर सौन्दर्यके

1-गंग०, पृ० २२७-२३४।

श्री श्रवणबेलगोला-स्थित-श्री चंद्रगिरि पर्वत।

श्री श्रवणबेलगोला-स्थित—श्री इन्द्रगिरिपर्वत।

साथ २ उपासना-तत्वके प्रतिमूर्ति होते थे-भावुकहृदय जैनी अपनी प्रार्थनाको उस पाषाणमें मुर्तिमान बना देते थे। सातवींसे दशवीं शताब्दियोंके मध्यवर्ती कालमें जैनाचार्योंने अपने धर्मका प्रशंसनीय प्रचार किया था और उससमय प्रायः सब ही प्रमुख जैन स्थानों जैसे—जननल, कुप्पत्तूर, अरगोदु कङ्कनाथपुर, चिक्कहनसोगे, हेग्गडदेवन-कोट्टे सित्तूर, हुमच, और श्रवणबेलगोलमें स्थापत्यकलाके आदर्श नमूने जैनियोंने बनवाये थे। हनगलकी 'चन्द्रनाथबस्ती' कुप्पत्तूरकी 'शान्तिनाथबस्ती'; हनसोगेकी 'आदिनाथबस्ती'; कित्तूरकी 'पार्श्वनाथ बस्ती'; विक्रमादित्य सान्तार द्वारा सन् ८९८ में निर्मित बाहुबलिकी 'गुड्डबस्ती'; एकमराजकी धर्मपुत्री पल्लवरानी चत्तलदेवी द्वारा निर्मापित 'पञ्चकूटबस्ती' और अङ्गडिका 'मकर जिनालय' सब ही इस बातके प्रमाण हैं कि वे द्राविड़ प्रणालीके आधारपर बनाये गये थे।[1]

मंदिरोंके अतिरिक्त गंग राजाओंने मण्डप, स्तंभ, विशालकाय मूर्तियां आदि निर्मापित कराकर अपने समयके

जैन-स्तम्भ।

शिल्पको मूल्यमई बनाया था। हिंदुओंके मण्डपमें चार स्तम्भ हुआ करते थे, परन्तु गंगोंके बनवाये हुये जैन मण्डपोंमें पांच स्तम्भ होते थे। चारों कोनों पर एक एक स्तम्भ होनेके अतिरिक्त मण्डपके बीचमें भी जैनियोंने एक स्तम्भ रक्खा था और इस बीचवाले स्तम्भकी यह विशेषता थी कि वह ऊपर छतमें इस होशियारीसे पची किया जाता था कि उसकी तलीमेंसे एक रूमाल आरपार निकल सकता था। फर्ग्यूसन

१-पूर्व पृ० २३५-२३६।

सा०ने इन स्तंभोंकी खूब प्रशंसा लिखी है। इन मण्डपके स्तंभोंके अतिरिक्त अलग भी स्तंभ बनाये गये थे। वह स्तंभ दो प्रकारके थे-

(१) मानस्तंभ, (२) ब्रह्मदेवस्तम्भ। मानस्तंभोंमें ऊपर चोटी पर एक छोटीसी वेदिका होती थी जिसमें चतुर्मुखी जिन प्रतिमा विराजमान रहती थी। ऐसा एक स्तंभ 'पार्श्वनाथवस्ती' के सन्मुख श्रवणबेलगोलमें है। ब्रह्मदेव स्तम्भोंमें चोटी पर ब्रह्मकी मूर्ति स्थापित होती थी। जैसे कि गंग राजा मारसिंहके सम्मानमें सन् ९७४ ई० का बना हुआ 'कुगे ब्रह्मदेव स्तंभ' है और सन ९८३ ई०में चामुण्डराय द्वारा निर्मापित 'त्यागदब्रह्मदेव स्तंभ' है। यह स्तम्भ एक समुचे पाषाणका बना हुआ है। और इसके नीचले भागमें नक्काशीका मनोहर काम होरहा है। इसीपर एक और चामुण्डराय और उनके गुरु श्री नेमिचंद्राचार्यकी मूर्तियां अंकित हैं। जो बेल इसपर उकेरी हुई है उसका सादृश्य अशोकके प्रयागवाले स्तंभ पर अंकित बेलसे है।[१]

वीरकल। गङ्ग-शिल्पकी एक अनूठी वस्तु उनके बनवाये हुये 'वीरकल' थे। यह शिलापट अत्यन्त चातुर्यसे वीरोंकी स्मृतिमें अंकित किये जाते थे। इनपर बहुधा संग्रामके दृश्य उकेरे हुये होते थे और लेखमें किसी वीरके शौर्यका बखान होता था। बयाथनहल्लि और तयलूरके वीरकलोंपर बड़े २ दांतोंवाले सुंदर हाथी अङ्कित हैं, जिनके गलोंमें मालायें झूलती हुई दर्शाई हैं। अनुक्रममें सम्राट्

१-गंग०, पृष्ठ २३७-२३९।

बुट्टुगके समयका एक वीरकल मिला है, जिसमें सूअरके आखेटका दृश्य अङ्कित है। इसमें शिकारी कुत्ते और जंगली सूअरकी लड़ाईका दृश्य बिल्कुल प्राकृतिक और सजीव है। दोड्डहुंडीके पाषाणपर अंकित नीतिमार्गके समाधिमरणका दृश्य भी भावुकता और सजीवताका नमूना है। बेगूरके वीरकलमें दो वीरोंके संग्रामका चित्रण खूब ही हुआ है। इन वीरकलोंसे उस समयके योद्धाओंके अस्त्र-वस्त्र और युद्ध संचालन क्रियाका भी पता चलता है।[1]

बेट्ट। वीरकलोंके साथ गङ्गोंने छोटी-छोटी पहाड़ियोंकी शकलमें 'बेट्ट' नामक इमारतें बनाई थीं। यह 'बेट्ट' खुले हुये महल होते थे, जिनके चारों ओर परकोटा होता था और मध्यमें श्री गोम्मटस्वामीकी विशालकाय मूर्ति होती थी। जैन कलाकारोंके लिये निस्सन्देह गोम्मटस्वामीकी मूर्ति आकर्षणकी एक वस्तु रही है। 'बेट्ट'के परकोटेमें प्रायः छोटी-छोटी कोठरियां बनी होती थीं, जिनमें तीर्थंकर भगवानकी प्रतिमाएं विराजमान की जाती थीं।[2]

श्री गोम्मट-मूर्ति। इन 'बेट्टों'के मध्यमें विराजित गोम्मट मूर्तियां भी गङ्ग शिल्पकी अद्वितीय वस्तु हैं। श्रवणबेलगोलके विंध्यगिरि पर्वतपर वीरमार्तण्ड चावुंडरायने सन् ९८३ ई०के लगभग एक अखण्ड पाषाणकी विशालकाय मूर्ति निर्माण कराई थी। यह मूर्ति संसारकी अद्भुत आश्चर्यजनक वस्तुओंमेंसे एक है और देश-विदेशके अनेकानेक यात्री

१-पूर्व०, २३९-२४१। २-मद्रा० पृ० २४१ व २४२।

इसके दर्शन करनेके लिये प्रतिवर्ष श्रवणबेलगोल पहुंचते है। यह नग्न, उत्तरमुख, खड्गासन मूर्ति अपनी दिव्यतासे वहांके समस्त भु-भागको अलंकृत और पवित्र करती है-कोसों दूरसे उसकी छबि मन मोहती है। निस्सन्देह वह शिल्पकी एक अनुपम कृति है। उसके सिरके बाल घुंघराले, कान बडे और लम्बे, वक्षस्थल चौड़ा, विशाल बाहु नीचेको लटकते हुए और कटि किंचित् क्षीण है। मुखपर अपूर्व कांति और अगाध शांति है। घुटनोंसे कुछ ऊपरतक बमीठे दिखाये गये है, जिनसे सर्प निकल रहे है। दोनों पैरों और बाहुओंसे माधवी-लता लिपट रही है, तिसपर भी मुखपर अटल ध्यानमुद्रा विराजमान है। मूर्ति क्या है मानो तपस्याका अवतार ही है। दृश्य बड़ा ही भव्य और प्रभावोत्पादक है।

सिंहासन एक प्रफुल्ल कमलके आकारका बनाया गया है। इस कमलपर बायें चरणके नीचे तीन फुट चार इंचका माप खुदा हुआ है। कहा जाता है कि इसको अठारहसे गुणित करने पर मूर्तिकी ऊंचाई निकलती है। जो हो, पर मूर्तिकारने किसी प्रकारके मापके लिये ही इसे खोदा होगा। निःसंदेह मूर्तिकारने अपने इस अपूर्व प्रयासमें अनुपम सफलता प्राप्त की है। एशिया खण्ड ही नहीं समस्त भूतलका विचरण कर आइये, गोमटेश्वरकी तुलना करनेवाली मूर्ति आपको क्वचित् ही दृष्टिगोचर होगी। बड़े बड़े पश्चिमीय विद्वानोंके मस्तिष्क इस मूर्तिकी कारीगरीपर चक्कर खागये हैं। इतने भारी और प्रबल पाषाण पर सिद्धहस्त कारीगरने जिस कौशलसे अपनी छैनी चलाई है उससे भारतके मूर्तिकारोंका मस्तक सदैव गर्वसे ऊंचा उठा रहेगा।

यह संभव नहीं जान पड़ता कि ५७ फीटकी मूर्ति खोद निकालनेके योग्य पाषाण कहीं अन्यत्रसे लाकर उस ऊंची पहाड़ीपर प्रतिष्ठित किया जासका होगा । इससे यही ठीक अनुमान होता है कि उसी स्थानपर किसी प्रकृति प्रदत्त स्तंभाकार चट्टानको काटकर इस मूर्तिका आविष्कार किया गया है ।

कमसे कम एक हजार वर्षसे यह प्रतिमा सूर्य, मेघ, वायु आदि प्रकृतिदेवीकी अमोघ शक्तियोंसे बातें कर रही है, पर अबतक उसमें किसी प्रकारकी थोड़ी भी क्षति नहीं हुई ! मानो मूर्त्तिकारने उसे आज ही उद्घाटित की हो । इस मूर्तिकी दोनो बाजुओंपर यक्ष और यक्षिणीकी मूर्तियां है, जिनके एक हाथमें चौंरी और दूसरेमें कोई फल है । मूर्तिके बायीं ओर एक गोल पाषाणका पात्र है, जिसका नाम 'ललित सरोवर' खुदा हुआ है । मूर्तिके अभिषेकका जल इसीमें एकत्र होता है ।

इस पाषाण पात्रके भर जानेपर अभिषेकका जल एक प्रणाली द्वारा मूर्तिके सम्मुख एक कुएंमें पहुंच जाता है और वहांसे वह मंदिरकी सरहद्के बाहर एक कन्दरामें पहुंचा दिया जाता है । इस कन्दराका नाम 'गुल्लकायज्जि बागिलु' है । मूर्तिके सम्मुखका मण्डप नव सुन्दर खचित छतोंसे सजा हुआ है । आठ छतोंपर अष्ट दिक्पालोंकी मूर्तियां है और बीचकी नवमी छतपर गोम्मटेशके अभिषेकके लिये हाथमें कलश लिये हुये इन्द्रकी मूर्ति है । ये छत बड़ी कारीगरीके बने हुए है । मध्यकी छतपर खुदे हुए शिलालेख (नं० ३५१) से अनुमान होता है कि यह मंडप बलदेव मंत्रीने

१२ वीं शताब्दिके प्रारम्भमें किसी समय निर्माण कराया था ।

शिलालेख नं० ११५ (२६७) से विदित होता है कि सेनापति भरतमय्यने इस मण्डपका कठघरा (हप्पलिगे) निर्माण कराया था । शिलालेख नं० ७८ (१८२) में कथन है कि नयकीर्ति सिद्धांतचक्रवर्तीके शिष्य बसविसेट्टिने कठघरेकी दीवाल और चौवीस तीर्थंकरोंकी प्रतिमायें निर्माण कराई थीं और उसके पुत्रोंने उन प्रतिमाओंके सम्मुख जालीदार खिड़कियां बनवाईं । शिलालेख नं० १०३ (२२८) से ज्ञात होता है कि चंगाल्व-नरेश महादेवके प्रधान सचिव केशवनाथके पुत्र चन्न बोम्मरस और नंजरायपट्टनके श्रावकोंने गोमटेश्वर मण्डपके ऊपरके खण्ड (बलिगाड़) का जीर्णोद्धार कराया ।'[1]

मस्तकाभिषेक । 'कुछ वर्षोंके अंतरसे गोमटेश्वरकी इस विशालकाय मूर्तिका मस्तकाभिषेक होता है, जो बड़ी धूमधाम, बहुत क्रियाकाण्ड और भारी द्रव्य-व्ययके साथ मनाया जाता है । इसे महाभिषेक कहते है । इस मस्तकाभिषेकका सबसे प्राचीन उल्लेख शक संवत् १३२० के लेख नं० १०५ (२५४) में पाया जाता है । इस लेखमें कथन है कि पण्डितार्यने सात बार गोम्मटेश्वरका मस्तकाभिषेक कराया था । पंचबाण कविने सन् १६१२ ई० में शांतवर्णि द्वारा कराये हुए मस्तकाभिषेकका उल्लेख किया है, व अनन्त कविने सन् १६७७ में मैसूर नरेश चिक्कदेवराज ओडेयरके मंत्री विशा-

१-जै.शिसं०, भूमिका पृष्ठ १९-२० व ३५-३६ ।

लक्ष पण्डित द्वारा कराये हुए और शांतराज पण्डितने सन १८२५ के लगभग मैसूर नरेश कृष्णराज ओडेयर तृतीय द्वारा कराये हुए मस्तकाभिषेकका उल्लेख किया है।

शिलालेख नं० ९८ (२२३) में सन् १८२७ में होनेवाले मस्तकाभिषेकका उल्लेख है। सन् १९०९ में भी मस्तकाभिषेक हुआ था। अभीतक सबसे अन्तिम अभिषेक मार्च सन् १९२५ में हुआ था। इस अभिषेकके उपरान्त इस दिव्य मूर्तिके विषयमें हाल हीमें आशङ्काका अवसर उपस्थित हुआ है। कहा जाता है कि मूर्तिपर कुछ चिह्न पड़ गये हैं। उन चिह्नोंको मिटाने और मूर्तिकी रक्षा करनेके लिये मैसूर-सरकार और दक्षिण भारतके जैनी सचेष्ट हैं। इसी सिलसिलेमें (सन् १९४० जनवरी फरवरी में) मस्तकाभिषेक करनेका निश्चित होचुका है और इस महोत्सवके अवसर पर मूर्ति-रक्षाका प्रबन्ध होगा!

इसप्रकार गङ्ग राज्यकालमें शिल्प और कलाकी भी विशेष उन्नति हुई थी। राइस सा.के मतानुसार वह पराकाष्ठाको प्राप्त हुई थी। (Sculpture and carving in stone attained to an elaboration perfectly marvellous).

तत्कालीन छोटे राजवंश।

१. **नोलम्ब-राजवंश।** नोलम्ब राजवंशके राजा अपनेको पल्लवंशसे सम्बन्धित प्रगट करते थे। उनका राज्य नोलम्बवाड़ी बत्तीस सहस्र नामक प्रान्त पर था, जो वर्तमान चित्तलदुर्ग जिलासे कुछ अधिक था। आजकल मैसूरमें जो 'नोणब' नामक किसान लोग मिलते हैं वे प्राचीन नोलम्बवाड़ी प्रजाकी सन्तान है। 'हेमावती-स्तंभ-लेख'से प्रगट हैं नोलम्ब राजा ईश्वरवंशी थे। उनके मूल पुरुष त्रिनयन नामक राजपुत्र थे; जिनसे वे अपना सम्बन्ध काञ्चीके राजा पल्लव द्वारा स्थापित करते थे। पहले नोलम्ब राजा मङ्गल नामके थे जो नोलम्बाधिराज कहलाते थे। उनकी प्रशंसा कर्णाट-वासियोंने की थी। मङ्गलके पुत्र सिंहपोत थे जिनके चारु-पोन्नेर नामक पुत्र हुये। इनके पुत्र पोललचोर नोलम्ब नामक थे। महेन्द्र पोललका पुत्र हुआ, जिनका पुत्र नन्निग अथवा अय्यप देव था। अय्यपदेवके दो पुत्र हुए, जिनके नाम क्रमशः (१) अणिगा अथवा वीर नोलम्ब और (२) दिलीप अथवा इरव नोलम्ब थे। इन्होंने समयानुसार नोलम्बवाड़ीपर राज्य किया था।

सिंहपोत। सिंहपोतके विषयमें कहा जाता है कि वह गङ्गवंशी राजा शिवमार सैगोट्टकी छत्रछायामें शासन करते थे। जब शिवमारका भाई दुग्गमार उनसे विमुख होकर स्वाधीन होनेके लिये प्रयत्न कर रहा था, तब उन्होंने दुग्गमारको परास्त करनेके लिये नोलम्बराज सिंह-पोतको भेजा था। वह उसमें सफल हुये थे, यह लिखा जाचुका है।

पोळल चोर। उपरांत जिस समय राष्ट्रकूट राजाओंने गंग राजमारको अपना बन्दी बना लिया था और गंगवाड़ी उनके अधिकारमें पहुंच गई थी तो उस समय राठौर राजाने सिंहपोतके पुत्र चारुपोन्नेर और उनके पौत्र पोळल चोरको नोळम्बलिगे प्रदेश एवं अन्य प्रांतोंपर शासन करनेका अवसर दिया था। किन्तु जब गंग राजा फिर स्वाधीन होगये और राजमल्ल सत्य वाक्य प्रथम शासनाधिकारी हुये, तो उन्होंने नोलम्ब राजाओंसे मित्रता करली–सिंहपोतकी पौत्री, पल्लवधिराजकी पुत्री और नोळम्बधिराजकी लघु भगनीके साथ उन्होंने अपना विवाह किया तथा अपनी पुत्री जायब्बे नोलम्बाधिराज पोलल चोरको व्याह दी। एक शिलालेखसे प्रगट है कि पोलल चोर गंग राजा नीतिमार्गके आधीन 'गंग-छै-सहस्र' नामक प्रान्त पर शासन करते थे।

महेन्द्र। पोलल चोरकी रानी गंग राजकुमारी जायब्बेकी कोखसे उनके उत्तराधिकारी महेन्द्र अथवा वीर महेन्द्रका जन्म हुआ था। महेन्द्र भी 'गंग छै सहस्र' प्रांतपर गंग राजाओंके आधीन शासनाधिकारी थे। किन्तु सन् ८७८ के लगभग वह स्वतंत्र होगये थे और उन्होंने गंग राजाओंसे मोरचा लिया था। गंग युवराज बुटुगके पुत्र एरेयप्पके हाथसे इस वीरकी जीवनलीला समाप्त हुई थी। महेन्द्रकी रानी दीवंबिके एक कदम्ब राजकुमारी थी, और इनके पुत्र अय्यप थे।

शिलालेखोंसे स्पष्ट है कि अय्यप एक शक्तिशाली शासक थे। वह स्वतंत्ररूपमें नोलम्बवाड़ी बत्तीस सहस्रपर शासन करते थे। उनका पुत्र अण्णय्य उनके साथ प्रांतीय शासकरूपमें राज्य करता था।

अय्यप।

अय्यप नन्निग, नन्निगाश्रय, नोलिपय्य और नोलम्बाधिराज नामोंसे प्रख्यात था। उसके पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र अण्णिग अथवा वीर नोलम्ब राजा हुआ था, जो अण्णय्य और अंकय्य नामसे भी परिचित था। गंग राजाओंसे इसे युद्ध करना पड़ा था, जिसमें गंग राजा पृथिवीपति द्वितीयके पुत्र अन्नि वीरगतिको प्राप्त हुये थे। आखिर अण्णिगको राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीयने सन् ९४० ई०में परास्त किया था।

उपरांत अण्णिगका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई दिलीप हुआ, जो नोलपय्य नामसे भी प्रख्यात् था। दिलीपने वैदुम्ब और महाबली राजाओंको अपने आधीन कर लिया था। इससे उसके शौर्य और विक्रमका पता चलता है। इनके पश्चात् इरिव नोलम्बके पुत्र नन्नि नोलम्ब राजा हुये; परन्तु वह अधिक समयतक राज्य नहीं कर सके, क्योंकि गङ्ग वंशके राजा मारसिंहने नोलम्बोंपर आक्रमण करके उन्हें नष्ट कर दिया था। तीन नोलम्ब राजकुमार अपने प्राण लेकर अन्यत्र जा छिपे थे। उन्हींकी संतानसे उपरांत-कालमें नोलम्ब वंशका पता इतिहासमें चलता है।[1]

दिलीप।

१-मैकु०, पृष्ठ ५४-५८.

२. सांतार-राजवंश। इस राजवंशके मूल संस्थापक जिन-

जिनदत्तराय। दत्तराय नामक महानुभाव थे, जो एक समय उत्तर-मथुराके उग्रवंशी राजा थे। जिन-दत्तरायके पिता सहकार नामक राजपुरुष थे। सहकारने एक किरात कन्यासे विवाह किया और उसके किरात पुत्रको राज्याधिकार दिलानेके लिये वह जिनदत्तरायके प्राणोंका ग्राहक होगया। जिनदत्तराय इस संकटके अवसरपर अपने प्राण लेकर भागा। साथमें उनकी माता भी होली, जिन्होंने शासन-देवी पद्मावतीकी मूर्ति भी लेली। वे माता-पुत्र भागते हुये दक्षिण भारतके होम्बुच नामक स्थानपर पहुंचे। वहांपर उन्होंने एक सुंदर मंदिर बनवाकर उसमें पद्मावतीदेवीकी प्रतिमा विराजमान की। पद्मावतीदेवीके अनुग्रहसे जिनदत्तरायको सोना बनानेकी विद्या सिद्ध हुई। उन्होंने बहुतसा सोना बनाया। अब उन्होंने आसपासके सरदारोंको अपने वश कर लिया। सांतल-प्रदेशको जीतनेके कारण उनका राजवंश "सातार" कहलाया। पहले यह राजा "चात" कहलाते थे। जिनदत्तरायने पोम्बुर्च (होम्बुच) में अपनी राजधानी स्थापित की; जहांसे वह और उनके उत्तराधिकारी सांतलिगे सहस्र प्रांतपर शासन करते रहे थे। वह प्रांत वर्तमान तीर्थहल्ली ताल्लुकसे किंचित् अधिक था। जिनदत्तरायने दक्षिणमें कलस देश (मुडगेरे ताल्लुक) तक अपना राज्य बढ़ाया था और उत्तरमें गोवर्द्धनगिरि (सागर ताल्लुक) पर क़िला बनाया था। उपरान्त सान्तारोंने अपनी राजधानी कलसमें और फिर कारकल (दक्षिण कनारा) में

स्थापित की थी। प्रारम्भमें इस वंशके सभी राजा जैनी थे परन्तु उपरान्त वे लिंगायत मतके अनुयायी होगये थे। और भैररस वोडेयरके नामसे प्रसिद्ध हुए थे; जैसे कि आगे लिखा जायगा। लिंगायत होनेपर भी उनकी रानियाँ जैनधर्मानुयायी ही थीं। उनका अस्तित्व १६ वीं शताब्दितक मिलता है, जिसके बाद उनका राज्य केलड़ी राज्यमें गर्भित होगया था।

सान्तार वंशके अन्य राजा।

प्रारम्भिक सान्तार राजाओंमें श्रीकेसी और जयकेसी भाई भाई थे, और श्रीकेशीका पुत्र रणकेशी था। राजा जगेसी समग्र सान्तलिगे प्रान्त पर राष्ट्रकूट राजा नृपतुङ्ग अमोघवर्षके आधीन राज्य करता था। किन्तु इस वंशके राजाओंका ठीक सिलसिला विक्रम सान्तारसे चलता है, जिसके विरुद्ध 'कन्दुकाचार्य' और 'दान विनोद' थे। उसे सान्तिलगे प्रान्तमें स्वाधीन राज्य स्थापित करनेका गौरव प्राप्त है; जिसकी सीमायें दक्षिणमें सूळ नदी, पश्चिममें तवनसी और उत्तरमें बन्दिगे नामक स्थान था। सन् १०६२ व १०६६ में वीर सान्तार और उसके पुत्र भुजबल सान्तारने चलुक्य राजाओंसे सान्तिलगे राज्यको मुक्त किया था। इस समयमें सान्तार राजाओंकी शक्ति बढ़ गई थी और वह प्रभावशाली हुए थे। भुजबलके भाई नन्नि-सान्तारके विषयमें कहा गया है कि उन्होंने गंग राजा बुटुग-पेम्माडिसे भी अधिक सम्मान प्राप्त किया था। बुटुग स्वयं आधी दूर चलकर उनसे मिलने आये थे और उन्हें अपने राजसिंहासन पर बराबरमें आसन देकर

सत्कारित किया था। इनसे तीसरी पीढ़ीमें राजा जगदेव हुए थे। जिन्होंने द्वारा समुद्रके होयसल राजाओं पर आक्रमण किया था, किन्तु उसमें वह सफल नहीं हुये थे। इस घटनाके पश्चात् सान्तार राजधानी कलस (मुडगेरे ताल्लुक) में स्थापित की गई थी, जिसके कारण सन् १२०९ से १५१६ ई० तक सान्तार-राज्य 'कलस-राज्य' के नामसे प्रसिद्ध हुआ था। कलस राजधानीसे जिन राजाओंने राज्य किया, उनमेंसे दो रानियोंने सन् १२४६ से १२८१ तक शासन-सूत्र संभाला था। इनके नाम जाकल और कालल-महादेवी थीं।

हूमछ (नगर तालुका)के शिलालेख नं० ३५ (१०७७ ई०) में सान्तार वंशकी जो वंशावली दी है, उससे इस वंशके निम्नलिखित राजाओंका पता चलता है। हिरण्यगर्भ (विक्रम सान्तार) की रानी बनवासीके राजा कामदेवकी पुत्री लक्ष्मीदेवी थीं। उनके पुत्र चागी सातार थे, जिनकी भार्या एंजलदेवी थीं। वीर सांतार उन्हींके पुत्र थे और उनकी रानी जाकलदेवीसे वज्र सातारका जन्म हुआ था; जिनकी रानी नागलदेवी थीं। उनके पुत्र नन्निसातार राजा हुए, जिनके छोटे भाई कामदेव थे। कामदेवकी रानी चंदलदेवी थीं; जिनकी कोखसे त्यागी सांतार जन्मे थे। नन्निसांतारकी भार्या सिरियांदेवी थीं, जिनके पुत्र रायसांतार हुए थे। रायकी रानीका नाम अक्कादेवी था और वह चिकवीर सांतारकी माता थीं। चिक्ककी रानी बिज्जलदेवीसे अम्मनदेव हुए थे, जिनकी भार्या होचलदेवी

१-मैकु०, पृष्ठ १३८-१४०.

और पुत्र तैलपदेव एवं पुत्री वीरवरसी थी। तैलपदेवकी महादेवी केलयव्वरसी थीं, जिनके पुत्र वीरदेव थे। उनकी गंगवंशी वीर महादेवीसे भुजबल सांतारका जन्म हुआ था। इनको चत्तलदेवी भी कहते थे। इनके अतिरिक्त इस वंशके और भी राजा थे।

सांतार राजा और जैन धर्म।

यह पहले ही लिखा जाचुका है कि सांतार राजा मूलमें जैन धर्मानुयायी थे। जैन धर्मकी उन्नति और प्रभाव—विस्तारके लिये उन्होंने अनेक कार्य किये थे। दक्षिण भारतमें एक समय जैनियोंके मठ तीन स्थानों अर्थात् (१) श्रवणबेलगोल (२) मलेयूर और (३) हूमसमें स्थापित और अतीव प्रसिद्ध थे। इनमेंसे हूमस–मठको सांतार राजा जिनदत्तरायने स्थापित किया था। इस मठके गुरु श्री कुन्दकुन्दान्वय और नन्दि संघसे सम्बन्धित रहे हैं। इसी मठके आचार्य श्री जयकीर्तिदेवसे सरस्वती गच्छ प्रारम्भ हुआ था। श्री जिनदत्तरायके गुरु आचार्य सिद्धांतकीर्ति भी इसी मठके स्वामी थे।[२] निस्सन्देह इस मठके आचार्योंने जैन धर्मकी अपूर्व सेवायें की थीं। उपरान्त सांतार राजाओंमें राजा तैलसांतार जगदेक एक प्रसिद्ध दानशील शासक थे। उनकी रानी चत्तलदेवी थीं, जिनसे उनके पुत्र श्री वल्लभराज विक्रम सांतारका जन्म हुआ था।

यह राजा भी अपने पिताकी भांति एक महान् दानवीर था। इसकी पुत्री पम्पादेवी परम विदुषी थी। 'महापुराण' का

१–मप्रजैस्मा०, पृष्ठ ३१७. २–मप्रजैस्मा०, पृष्ठ १६२.

अध्ययन उन्होंने विशेष रूपसे किया था। स्वयं उनके रचे हुये 'अष्ट-विद्यार्चना-महाभिषेक' और 'चतुर्भक्ति' नामक ग्रंथ थे। वह इतनी विद्यासम्पन्न थीं कि लोग उन्हें 'शासनदेवता' कहते थे। वह द्राविड़ संघ नंदिगण अरुंगलान्वयी श्री अजितसेन पंडितदेव अथवा वादीभसिंहकी शिष्या श्राविका थीं। उनके भाई श्री वल्लभ राजाने आचार्य वासुपूज्य सिद्धांतदेवके चरण धोकर दान दिया था।

चत्तलदेवीने भी कमलभद्र पंडितदेवके चरण धोकर 'पंचकूट-जिन मंदिर' के लिये भूमि दी थी। पम्पादेवीकी पुत्री बाचलदेवी भी अपनी विद्या और दानशीलताके लिये प्रसिद्ध थी। वह नाग-देवकी भार्या तथा पाडल तैलकी माता थीं। जिनधर्मकी वह परम भक्त थीं। उन्होंने कवि पोन्नकृत 'शांतिपुराण' की एक सहस्र प्रतियां लिखाकर बांटी थीं तथा १५०० जिनमूर्तियां सुवर्ण और रत्नोंकी निर्माण कराईं थीं।

इन उल्लेखोंसे सान्तार राज्यमें शिक्षाकी उन्नति और महिला-ओंका सम्मान एवं उनकी दानशीलताका पता चलता है। विक्रम सान्तारदेव भी जिनेन्द्र भक्त थे। उन्होंने 'पंचकूट जिनालय' के लिये अजितसेन पण्डितदेवके चरण धोकर भूमि प्रदान की थी। तैलपुरुष सान्तार राजाकी रानी पालियक्कने अपनी माताकी स्मृतिमें पाषाणका एक जिनमंदिर बनवाया था, जो 'पालियक्क-बस्ती' के नामसे प्रसिद्ध है और उन्होंने उस मंदिरको दान भी दिया था।

त्रैलोक्यमल्ल वीर सातारदेवने हूमसमें 'नोकियब्बे' नामक जिनमंदिर निर्माण कराया था। उनकी रानी चागलदेवीने मंदिरके

सामने मकरतोरण और बलिगावेमें 'चागेश्वर' नामका जिनमंदिर बनवाया था। इस मंदिरके अहातेमें हूमसके माच गोविन्द नामक श्रावकने समाधिमरण किया था। वहां अन्य श्रावकोंने भी सल्लेखना व्रत आराधा था। वीर सांतारके राज्यमें दिवाकरनंदि सिद्धां-देवके शिष्य पट्टनस्वामी नोकय्या सेठीने 'तत्त्वार्थसूत्र' पर कनड़ीमें सिद्धांत रत्नाकर' नामक वृत्ति रची थी, जिसे उसके पुत्र मुल्लमने लिखा था।

नन्नि सांतारके राज्यमें पट्टनस्वामी नोकय्या सेठीने 'पट्टनस्वामी जिनालय' निर्माण कराया और वीर सातारसे मोलवरी ग्राम प्राप्त करके उसे कुकड़वाड़ी ग्राम सहित सकलचंद्र पण्डितदेवके चरण धोकर दान किया। नोकय्य पट्टनस्वामी बड़े धर्मात्मा सज्जन थे। वह सम्यक्त्ववाराशि' नामसे प्रसिद्ध थे। उन्होंने मदुरामें सुवर्ण और रत्नोंकी प्रतिमायें निर्माण कराकर स्थापित की थीं। और वहां नई सरोवर बनवाए थे।

भुजबल सांतारदेवने कनकनंदि मुनिकी सेवामें हरवरो ग्राम अपने बनवाये हुये जिनालयके लिये दिया था। तौलपुरुष विक्रमादित्य सांतारने सिद्धांत भट्टारकके उपदेशसे पाषाणका एक जिन मंदिर निर्माण कराया था। भुजबल सांतारने पोम्बुर्चामें 'पंचवस्ती' बनवाई। अनन्दूरमें चत्तलदेवी और त्रिभुवनमल्ल सांतारदेवने एक पाषाणकी वस्ती श्री द्रविड़-संघ अरुंगलान्वयी अजितसेन पण्डितदेव 'वादिघरट्ट' के नामसे निर्माण कराई।[1] सन् १०९० के करीब कोप्प ग्राममें महाराज मार सांतारवंशीने अपने गुरु मुनि वादीभसिंह

1-ममै प्राजैस्मा०, पृ० ३११-३२५।

अजितम की स्मृतिमें एक स्मारक स्थापित किया था। यह राजा मयूरवर्माका पुत्र तथा जैनागमरूपी समुद्रकी वृद्धमें चन्द्रमाके समान था। (ममै जैस्मा० २९१) इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि सान्तार-वंशके राजाओंके समय जैनधर्मका परम उत्कर्ष हुआ था। जैनसिद्धांतका ज्ञान जनसाधारणमें प्रचलित था।

चङ्गाल्व।

४-चांगल्व राजवंश चांगल्व वंशके राजाओंने दीर्घकाल तक मैसूर जिलेके पश्चिमी भाग और कुर्ग देशपर शासन किया था। उनका मूल आवास चङ्गवाड़ नामक प्रदेश था, जो वर्तमानके हुन्सूर तालुक जितना था। चागल्व अपनेको चन्द्रवंशी यादव कहते और बताते हैं कि द्वारावतीमें चङ्गाल्व नामक राजा राज्य करते थे वे उन्हींकी सन्तान हैं। शिलालेखोंमें उन्हें 'मण्डलीक-मण्डलेश्वर' कहा गया है।[1] वे मुख्यतः जैन मतानुयायी थे, जैन शिलालेखोंमें उनका उल्लेख हुआ मिलता है। पंसोगेके चौसठ जिन मंदिरोंके विषयमें कहा जाता है कि उन्हें राम-लक्ष्मणने बनवाया था-चांगल्व राज्यकी पूर्वी सीमा वहीं तक थी। इन मंदिरोंपर जिन जैनाचार्योंका अधिकार था, वही चाङ्गल्व राजाओंके गुरु थे। चाङ्गल्वोंके प्रसिद्ध राजा नन्नि चङ्गल्व राजेन्द्र चोल थे। उन्होंने पनसोगेमें एक जिन मंदिर निर्माण कराया था। महाराज कुलोत्तुंग चागल्व महादेवके मंत्रीके पुत्र चन्नबोम्मरसने गोम्मटस्वामीका जीर्णोद्धार कराया था।[2] जैन उपरान्त इस वंशके राजा शैव मतानुयायी होगये थे।[3] संभवतः

१-मैकु०, पृ० १४३-१४४. २-ममै प्राजैस्मा०, पृ० २०१-२०३ व २५७-३२८. ३-मैकु०, पृ० १४१.

चोल राजाओंके प्रभावमें आनेके कारण उन्हें ऐसा करना पड़ा होगा।

४—कोङ्गल्व राजवंश-इस वंशके राजा एक समय मैसूर प्रान्तके अर्कलगुड़ तालुक और कुर्गदेशके **पंचव-महाराय।** येलुसावीर देशपर राज्य करते थे। पनसोगेके युद्धमें चाङ्गल्वोंके विरुद्ध राजराज चोलकी ओरसे पंचव-महाराय वीरतापूर्वक लड़े थे; जिसके कारण प्रसन्न होकर राजराज चोलने उनके शीशपर मुकुट बांधकर 'क्षत्रिय शिखामणि कोङ्गल्व' उपाधिसे उन्हें अलंकृत किया था और उन्हें मालवि प्रदेश भेंट किया था। पंचव महारायका एक शिलालेख (सन् १०१२) बल्मुरे नामक स्थानमें प्राप्त हुआ है, जिसमें प्रगट है कि वह राजराज चोलके चरणकमलोंका भ्रमर था जिन्होंने उसे वेङ्गिमण्डल और गंगमण्डलका महादण्डनायक नियुक्त किया था उन्होंने पश्चिमीय तटवर्ती देशोंको विजय किया था अर्थात् उन्होंने तुलुव, कोङ्कण और मलयको अपने आधीन किया था। ट्रावनकोरके राजा चेरमको संग्राम भूमिमें भगा छोड़ा था। और तलुगों और रट्टिगोंको भी खदेड़ा था। इस उल्लेखमें उनके शौर्य और पराक्रमका परिचय प्राप्त होता है। कोङ्गल्व वंशके यही आदि पुरुष थे।

इनके पश्चात् हुये राजाओंमें अदत्तरादित्य नामक प्रतापशाली था। उसने सन् १०६६ से ११०० **राजा अदत्तरादित्य।** ई० तक राज्य किया था। वह शिलालेखोंमें 'पंच महाशब्द भोगी'—'महामण्डलेश्वर'—'ओरेयूर-पुरा धीश्वर'—'प्राची-दिक् सूर्य'—'सूर्य वश-चूड़ामणि'

कहा गया है। इन उपाधियोंसे अदत्तरादित्यका महान् व्यक्तित्व स्वतः प्रगट होता है। उनके एक मंत्री नकुलार्य नामक थे, जो चार भाषाओंमें लिख-पढ़ सकते थे।

अन्य राजा। अदत्तरादित्यके पहले हुये राजाओंमें (१) वादिम, (२) राजेन्द्र चोल पृथ्वीमहाराज (सन् १०२२); (३) राजेन्द्र चोल कोंगल्व (१०२६) का उल्लेख मिलता है। अदत्तरादित्यके उत्तराधिकारी त्रिभुवन मल्लचोल कोङ्गल्देव थे। ये सभी राजा जैनधर्मानुयायी थे। राजा अदत्तरादित्यने मूलसंघ कानूरगण तगरीगल गच्छके गंधविमुक्त सिद्धांतदेवाचार्यके उपदेशसे एक जिनमंदिर निर्माण कराया था, जिसे उन्होंने सिद्धांतदेव प्रभाचंद्र उदयसिद्धांत रत्नाकरकी सेवामें अर्पित किया था। तथा उसके लिये भूमि भेंट की थी। महामंडलेश्वर त्रिभुवनमल्ल चोल कोंगल्देवके सेवक रावरेठवक पोते अदत्तरादित्यके आधीन सरदार बुवेय अदिनामक थे। उन्होंने जैनाचार्य श्री पद्मनंदिदेवकी सेवामें भूमिदान किया था।[1]

सारांशतः कोङ्गाल्व राज्यमें राजा और प्रजाके संयुक्त उद्योगसे जैनधर्मका उल्लेखनीय प्रकाश हुआ था।

कोङ्गल्व व जैनधर्म। सन् १३९० में किन्हीं जैनाचार्योंने मुक्कुर (कुर्ग) नामक स्थानकी बस्तियोंका जीर्णोद्धार कराया था। उन मंदिरोंके लिये कोङ्गाल्व सुगुणिदेवीने दान दिया था। इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि कोङ्गाल्व राज्यका अन्त चोलोंके

१-मजैप्राजैस्मा०, पृ० २८४-२८६.

साथ लगभग सन् ११९५ ई० के होगया था; परन्तु उनकी संतान उसके पश्चात् भी जीवित रही। अपनी स्वाधीनता स्थिर रखनेके लिये कोङ्गाल्व राजाओंने होयसलवंशके राजाओंके साथ वीरतापूर्वक मोरचा लिया था। सन् १०२२ में तो उन्होंने नृपकाम पोयसल पर बढ़कर आक्रमण किया था। और रणक्षेत्रमें उसके प्राणोंको संकटमें डाल दिया था। कदाचित् सेनापति जोगय्य उनकी सहायताको न आते तो वह शायद ही रणभूमिसे जिन्दा लौटते। सन् १०२६ ई० में भी कोङ्गाल्व राजाओंने मन्नि नामक स्थान पर होयसलोंको परास्त किया था, किन्तु अन्ततः वह होयसलोंके सम्मुख टिक न सके और अपने राज्यसे हाथ धो बैठे।[1]

५. पुन्नाट–राजवंश। मैसूरके दक्षिणकी ओर अवस्थित अति प्राचीन पुन्नाट राज्य था। भद्रबाहु श्रुत केवलीने श्रवणबेलगोलसे आगे पुन्नाट राज्यमें जानेका आदेश अपने संघको दिया था। ('सघोपि समस्तो गुरुवाक्यत: दक्षिणापथ देशस्थ पुन्नाटविषयम् ययौ'–हरिषेण) यूनानी लेखक टोल्मीने भी पुन्नाटका उल्लेख Pounnata 'पौन्नट' नामसे किया है। गरज़ यह कि पुन्नाट–राज्य अत्यन्त प्राचीनकालसे प्रसिद्धिमें आरहा था; किन्तु इस राज्यके राजाओंका उल्लेख सबसे पहले गङ्गवंशी राजा अविनीतके समयमें हुआ मिलता है। वह छै सहस्रका एक प्रांत था और उसकी राजधानी कित्थिपुर थी, जो वर्तमानमें कित्तुर नामक स्थान है। अविनीतके पुत्र दुर्विनीतकी रानी पुन्नाट–राजा स्कन्दवर्माकी

१–मैकु०, पृ० १४५.

पुत्री थीं। राजा स्कन्दवर्माने उनके लिये एक अन्य ही राजकुमार पति चुना था, परन्तु उन्होंने स्वयं दुर्विनीतको वरा था इस घटनासे तत्कालीन स्त्री-स्वातंत्र्य एवं वैवाहिक समुदारताका पता चलता है।

उपरान्त पुन्नाट राज्य गङ्ग साम्राज्यमें मिला लिया गया था। पुन्नाट राजाओंका केवल एक शिलालेख मिला है, जिससे इस वंशके निम्नलिखित राजाओंके नाम मिलते हैं—(१) राष्ट्रवर्मा, (२) जिनका पुत्र नागदत्त था, (३) नागदत्तके पुत्र भुजग हुये, जिन्होंने सिंहवर्माकी पुत्रीके साथ विवाह किया था, (४) उनके पुत्र स्कन्द-वर्मा थे, जिनके पुत्र और उत्तराधिकारी, (५) पुन्नाट-राज रविदत्त हुये थे।[1]

६. **सेनवार राजवंश**—के राजा जैन धर्मानुयायी थे जिनके शिलालेख काडूर जिलाके पश्चिमीय भागमें मिले हैं। पहले-पहले पश्चिमी चालुक्य राजा विनयादित्यके समयमें अर्थात् सन् ६९० के लगभग सेनवार राजाओंका उल्लेख हुआ मिलता है। सन् १०१० ई०के लगभग राजा विक्रमादित्यके आधीन एक सेनवार राजा बनवासी प्रान्तपर शासन करते बताये गये हैं। किन्तु सन् १०५८ ई० के उपरान्त सेनवार राजा स्वतंत्र हो गये थे। वे अपनेको खचरवंशी बताते थे।

जैन शास्त्रोंमें विद्याधर वंशके राजाओंको 'खेचर' भी कहा गया है। संभव है कि सेनवार राजा मूलमें विद्याधर वंशके हों। उनका राजध्वज सर्पचिह्न युक्त था—इसीसे उसे 'फणध्वज'

१–पूर्व० पृ० १४९.

कहते थे तथा उनका राजचिह्न सिंह था। वे अपनेको कुडलुरपुराधीश्वर कहते थे। कनति नामक स्थानसे उनका जो एक शिलालेख मिला है, उसपर बायीं ओरसे चमर, छत्र, चन्द्र, सूर्य, तीन सर्प, एक खड्ग, गऊ-वत्स तथा सिंह अंकित हैं। उनके शिलालेखसे प्रगट है कि सेनवार राजा जीवितवार एक स्वाधीन शासक थे। उनके पुत्र जीमूतवाहन थे।

जीमूतवाहन आदि राजा।

जीमूतवाहनके पश्चात् उनके पुत्र मार अथवा मारसिंह नामक राजा हुये थे। मार एक पराक्रमी राजा थे। उन्होंने विद्याधर लोकके सब ही राजाओंको अपने आधीन किया था। वह हेमकूटपुरके स्वामी कहे जाते थे। सन् ११२८ ई०में विक्रमादित्य राजाके दरबारमें सेनवार राजपुत्र सूर्य और आदित्य मंत्रीपदपर नियुक्त थे, जिससे अनुमान होता है कि इस समयके पहले ही सेनवार राजा अपनी स्वाधीनता खोबैठे थे। सूर्यके पुत्र सेनापति थे, जिन्होंने पांड्य वंशके राजाओंकी शक्तिको अक्षुण्ण बनाये रक्खा था। इन राजाओंके समयमें भी जैनधर्मकी उन्नति हुई थी। सन् १०६० के लगभग कादवंती नदीके तटपर जब सेनवार वंशके राजा खचर कंदर्प राज्य करते थे तब देशीगण पाषाणान्वयी भट्टारक अकलंकदेवके शिष्य महादेव भट्टारक थे, जिनके शिष्य श्रावक निर्वद्यने भेकलाकी चट्टानपर 'निर्वद्य जिनालय' बनवाया था।[२]

१-मैकु०, पृ०१४८-१४९. २-ममैप्राजस्मा०, पृ० २८९.

७. सालुव-राजवंश । सालुव अथवा साल्व वंशके राजा भी मूलमें जैनी थे। वे अपनेको चन्द्रवंशी बताते थे। तुलुव-देशान्तर्गत सङ्गीतपुर (हाडुवल्लि) नामक नगरमें उनकी राजधानी थी। सालुओंके पूर्वज टिकम सेउनवंशी राजा महादेव और राम-चन्द्रके सेनापति थे, जिन्होंने सन् १२७६-८० में होयसल राजा-ओंपर आक्रमण किया था। कहते है, उन्होंने होयसल राजधानी दोरासमुद्रको लूटा था। सन् १३८४ में एक सालुव रामदेव तलकाड़के शासक (Governor) थे। वह कोट्टकोडं नामक स्थान पर तुरकोंसे लड़ने हुए वीरगतिको प्राप्त हुये थे। सालुव-टिप्प-राजका विवाह विजयनगरके राजा देवराय द्वितीयकी बहिन हरियाके साथ हुआ था।

सन् १४३१ में देवरायने टिप्पराज और उनके पुत्र गोपरा-जको टेकल नामक प्रदेश प्रदान किया था। इनके विरुद्ध 'मेदिनी, मीसर, गंड' व 'कठारि. सालुव' थे। सन् १४८८-१४९८ ई०के मध्यमें इस वंशमें इन्द्र, उनके पुत्र संगिराज और पौत्र सालुवेन्द्र तथा इन्द्रगरस्य इम्मडि-सालुवेन्द्र हुये थे। उपरांत सन् १५३० तक सालुव मल्लिराय, देवराय और कृष्णदेव नामक राजा हुये थे। सन् १५६० के लगभग सालुवोंकी राजधानी क्षेमपुर (जेरसोप्पा) होगई थी; जहां देवराय, भैरव, और साल्वमल्ल नामक राजाओंने तुलु, कोंकन, हैवे आदि देशोंमें पराजय किया था। इसी वंशके कतिपय राजाओंने सन् १४७८-१४९६ तक विजयनगर राज्यपर शासन किया था। सालुव नरसिंह नामक राजकुमार विजयनगर

सम्राट्के सेनापति थे। वे बाहमनी सुलतानके मुकाबिलेमें बहादुरीसे लड़े और मुसलमानोंके आक्रमणसे साम्राज्यकी रक्षा की जिसके कारण उनका प्रभाव और शक्ति बढ़ गई। कहते हैं कि मौका पाकर उन्होंने विजयनगर राजसिंहासनपर अपना अधिकार जमा लिया। कर्णाट और तेलिंगाना देशमें उस समय वह सर्वश्रेष्ठ पराक्रमी और शक्तिशाली योद्धा थे। कांची उनके राज्यके ठीक बीचमें थी। परन्तु उनका राज्य अधिक समयतक नहीं टिका। आखिर उनके वंशज कृष्णराय आदि राजाओंके राजमंत्री होकर रहे।[1]

८–धरणीकोटाके जैन राजा- कृष्णा जिलेके धरणीकोटा नामक स्थानमें जिन राजाओंने १२ वीं-१३ वीं शताब्दिमें राज्य किया था, वे जैनी थे। यनमंडलवाले शिलालेखसे इन राजाओंमेंसे छै राजाओंके नाम इस प्रकार लिखे मिलते हैं। (१) कोटभीमराय, (२) कोटकेतराय सन् ११८२, (३) कोटभीमराय द्वि०, (४) कोटकेतराय द्वि० सन् १२०९, (५) कोटरुद्रराय (६) कोटबेतराय। अंतिमराजा कोटबेतरायने वारङ्गलके राजा गनपतिदेव और रानी रुद्रम्माकी कन्या गनपन्दवासे विवाह किया था। राजा गनपतिदेव जैनियोंका विरोधी था। उसने अपनी कन्या इस दुष्ट अभिप्रायसे बेतरायको ब्याही थी कि वह भी जैनियोंका विरोधी होजाय। परिणामतः गनपन्दवाकी मनचेती हुई–गनपनवाका पुत्र प्रतापरुद्र बेतरायके पश्चात् राज्याधिकारी हुआ। उसने जैन धर्मको त्याग कर अपनी माताका ब्राह्मणधर्म स्वीकार किया था। मालूम होता है कि

१–मैकुं०, पृ० १५२–१५३.

उसका व्यवहार जैनियोंके प्रति समुदार नहीं रहा—यही कारण है कि जैनी उसके समयमें धरणीकोटा छोड़कर चले गये थे। कहते हैं उस राजाके नाना गनपतिदेवने तो जैनियोंको कोल्हूओंमें पिलवानेकी नृशंसताका परिचय दिया था। वरंगलमें आज भी जैन ध्वंसावशेष इस अत्याचारकी साक्षी देरहे हैं।[1]

(९) महाबलि-राजवंश-के राजाओंका राज्य गंगोंसे पहले आंध्र देशसे पश्चिमकी ओर था। उनका दंडाधिप श्री विजय। प्रदेश 'अर्द्ध-सप्त-लक्ष' कहलाता था तथा आंध्र मंडलमें उनके बारह सहस्र ग्राम थे। उनके आदिपुरुष महाबली और उनके पुत्र बाण नामक राजा थे। उनका राजचिह्न वृषभ था और उनकी राजधानी महाबलिपुर थी। प्रारम्भमें वे शिवके उपासक थे। उनके एक राजा नरेन्द्र महराज थे, जो 'बलिवंश' के आभूषण कहे गये हैं। उनके दण्डाधिपति श्री विजय एक पराक्रमी योद्धा और महान् वीर थे। एक शिला-लेखमें उनके विषयमें लिखा है कि "महायोद्धा दण्डाधिपति श्री विजय अपने स्वामीकी आज्ञासे चार समुद्रोंसे वेष्ठित पृथ्वीपर राज्य करते थे; जिन्होंने अपने प्रबल तेजसे शत्रुओंको दबाया और उन्हें विजय कर लिया था। अनुपम कवि श्री विजयके हाथमें तलवार बड़े बलसे युद्धमें शत्रुओंको काटती है और घुड़सवारोंकी सेनाके

१–मैप्राजैस्मा०, पृ० २१–२३.

साथ हाथियोंके बड़े समूहको प्रथम हटाकर, भयानक सिपाईयोंकी क़तारको खण्डित करके विजय प्राप्त करती है। बलि वंशके आभूषण नरेन्द्र महाराजके दंडाधिपति श्री विजय जब कोप करते हैं तो पर्वत पर्वत नहीं रहता, वन वन नहीं रहता और जल जल नहीं रहता।" एक अन्य लेखमें उनके विषयमें लिखा है कि "अनुपम कवि श्री विजयका यश पृथ्वीमें उछरकर आठों दिशाओंमें फैल गया था। उन श्रीविजयकी शक्तिशाली भुजायें जो शरणागतके लिये कल्पवृक्षके तुल्य हैं, शत्रुराजरूपी तृणके लिये भयानक अग्निवनके समान हैं एवं प्रेमदेवताके द्वारा लक्ष्मीरूपी देवीको पकड़नेके लिये जालके तुल्य हैं, इस पृथ्वीकी रक्षा करें। दंडनायक श्रीविजय जो दान और धर्ममें सदा लीन रहते हैं, वह समुद्रोंसे वेष्ठित पृथ्वीकी रक्षा करते हुये चिरकाल जीवें।"[1] इन उल्लेखोंसे दंडाधिप श्रीविजयकी धार्मिकता और साहित्यशालीनताका परिचय प्राप्त होता है। वह एक महान् योद्धा, धर्मात्मा सज्जन और अनुपम कवि थे।

(१०) एलिनका राजवंश इस वंशके राजा एकसमय केरल प्रांतमें राज्य करते थे; जिन्हें 'चीरावंशी' भी कहते थे। तामिल साहित्यमें उनकी उपाधि 'आदि गैनम्' अर्थात् 'आदि गईके स्वामी' थी। आदिगइ वर्तमानमें तिरूवादी नामक स्थान है। इन राजाओंकी राजधानी पहले वांजी नामक स्थान था। उपरांत वह तकता (धर्मपुरी)में

१-मैमप्राजैस्मा०, पृ० ३२-३३।

स्थानान्तरित की गई थी। तिरुमलय पर्वतके शिलालेखमें इस वंशके तीन राजाओंके नाम इस प्रकार मिलते हैं। (१) एलिनीया यवनिका, (२) राजराजपावगन, (३) व्यामुक्तश्रवणोज्वल या विदुगदलगिय पेरूमल। ये सब जैनधर्मानुयायी थे। इनमेंसे पहले राजा एलिन यवनिकाने अरह सुगिरि (अर्थात् अर्हंतोंके सुन्दर पर्वत) तिरूमलय पर्वतपर यक्ष यक्षिणीकी मूर्तियां स्थापित की थीं। इन मूर्तियोंका जीर्णोद्धार अंतिम राजा व्यामुक्त श्रवणोज्वलने किया था।[1] पहले राजा एलिन यवनिकाके नामसे ऐसा भासता है कि यह राजा विदेशी थे। सन् ८२९ में इस वंशके अंतिम राजा चीरामल पेरूमलक विषयमें कहा जाता है कि वह मक्का गये थे।[2] इस उल्लेखसे उनका अरबदेशसे सम्बन्ध होना स्पष्ट है। मक्कामें पहले ऐसे मंदिर थे जिनमें मूर्तियोंकी पूजा होती थी। श्रवणबेलगोलके एक मठाधीशने पहले यह बताया था कि दक्षिण भारतमें बहुतसे जैनी अरब देशसे आकर बसे थे[3] अतएव बहुत संभव है कि यह राजा मूलमें अरबदेशके निवासी हों।

इस प्रकार संक्षिप्त रूपमें तत्कालीन छोटे-छोटे राज्योंका वर्णन है। अपने राजाओंकी तरह यह मण्डलीक सामन्त भी जैन धर्मके प्रचारमें तल्लीन हुये मिलते हैं। निस्सन्देह जैन धर्मकी शरणमें

१–पूर्व० पृष्ठ ७९ व ९०. २–पूर्व पृष्ठ ११९. ३–ऐरि०, भा० ९ पृ० २८४.

आकर देशी-विदेशी सब ही प्रकारके शासकोंने शान्तिलाभ किया था और धर्मके पवित्र सिद्धान्तोंका प्रचार किया था। कुहाप्रा जिलेमें प्राप्त एक लेखमें जिस पावन भावनाको उत्कीर्ण किया गया है उसको यहां उद्धृत करके हम यह खण्ड समाप्त करते हैं:

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्य्यः ।
सद्वृत्तानां गुणगणकथा, दोषवादे च मौनम् ।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो, भावना चात्मतत्त्वे ।
सम्पद्यंतां मम भवभवे, यावदेतेऽपवर्गः ॥

ता० ३०-७-३८ } कामताप्रसाद जैन-अलीगंज ।